सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड

अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद'

सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड

लेखक
अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद'

नमन
प्रकाशन

जनजाति एवं लोककला संस्कृति संस्थान
उत्तर प्रदेश

जनजाति एवं लोककला संस्कृति संस्थान

उत्तर प्रदेश

के आर्थिक अनुदान से

नमन
प्रकाशन

द्वारा प्रकाशित

आवरण चित्र परिचय

प्रथम पृष्ठ – बारहमासा (कातिक) रंगचित्र, 19वीं शती (निजी संग्रह से)

अंतिम पृष्ठ – बुन्देली मृण्मूर्ति शिल्प – झूमर

© अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद'

लेखक : अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद'

आवरण : योगी

प्रकाशक: नमन प्रकाशन
मण्डपम्, राठ रोड, उरई (उ.प्र.)
दूरभाष: (05162) 252450

मुद्रक : प्रिंट आर्ट आफसेट
33, कैन्ट रोड लखनऊ (उ.प्र.)
दूरभाष: (0522) 2619026

प्रथम संस्करण : 2004 ई0

मूल्य : रु. 95.00

ISBN - 81-89095-05-06

डॉ. योगेन्द्र प्रताप सिंह
निदेशक

जनजाति एवं लोककला संस्कृति संस्थान
Folk and Tribal Arts and Cultural Society
(उ०प्र० संस्कृति विभाग का स्वायत्ताशासी संगठन)

उ०प्र० में बुन्देलखण्ड की लोक-संस्कृति का अपना विशिष्ट महत्व है। राजनैतिक धरातल पर बुन्देलखण्ड म०प्र० और उ०प्र० में विभाजित है परन्तु इसकी सांस्कृतिक अस्मिता और परम्परा एक है। बुन्देलखण्ड के पठार, उसके दुरूह और दुर्गम रास्ते इसे अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क से दूर रखते हैं, इस कारण बुन्देलखण्ड में आज भी सांस्कृतिक पहचान और परम्परा बनी हुई है।

श्री अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद' जी बुन्देलखण्ड ही नहीं अपितु राष्ट्रीय स्तर पर लोक-साहित्य के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। कुमुद जी लोक अंचलों के ऐसे विशिष्ट रचनाकार हैं जिन्होंने अपने मन, वचन और कर्म से लोक की पहचान राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित की है। जनजाति एवं लोककला संस्कृति संस्थान के द्वारा **'सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड'** का प्रकाशन अपने आप में एक सौभाग्य की बात है। निश्चित रूप से यह पुस्तक बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक परम्परा को पुष्ट करेगी और शोधार्थियों, सुधीजनों तथा सांस्कृतिक जानकारी प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी होगी।

(डॉ. योगेन्द्र प्रताप सिंह)
निदेशक

नवम् तल, जवाहर भवन, लखनऊ - 226 001

पुरोवाक्

विन्ध्य पर्वत मालाओं के सुरम्य प्रांगण में निवसित तथा यमुना, नर्मदा, चंबल, तमसा, दशार्ण पुष्पावती (पहूज) शुक्तिमती (केन) और वेत्रवती (वेतवा) आदि की पवित्र जलध ाराओं से अभिसिंचित बुन्देलखण्ड भारतवर्ष का हृदयस्थल है। शौर्य और स्वाभिमान संपन्न इसका गरिमामय इतिहास, संस्कृति और साहित्य अनुपम है। वर्तमान में उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश नामक दो राज्यों में विभक्त इसका भूभाग समवेत रुप से एक विशिष्ट सांस्कृतिक प्रदेश है। इसकी अपनी समृद्ध परंपरायें हैं। इसके विशिष्ट सांस्कृतिक स्वरूप को संक्षेप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से 'सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड नामक यह पुस्तक आपके सामने है।

यद्यपि इस क्षेत्र के इतिहास और संस्कृति पर बहुत कुछ लिखा गया है तथापि अनेक महत्वपूर्ण प्रसंग उपेक्षित रहे हैं। इनको प्रकाश में लाने की दिशा में यह पुस्तक एक विनम्र प्रयास है। इसमें मेरे छोटे–बड़े प्रकाशित तथा अप्रकाशित तेईस आलेखों को एक स्थान पर पुस्तकाकार स्वरुप दिया जा रहा है। इस निबंध संग्रह को दो खण्डों में नियोजित किया गया है, प्रथम, सांस्कृतिक इतिहास तथा द्वितीय, 'सांस्कृतिक परंपराएं'।

पाठकों की मांग रही है कि बुन्देलखण्ड के प्राचीनकाल से वर्तमान काल तक के विस्तृत ऐतिहासिक परिदृश्य को प्रामाणिक किन्तु संक्षिप्त एक आलेख में, विहंगावलोकन शैली में, प्रस्तुत किया जाना चाहिये। इस विचार से 'बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' विषयक एक शोधपत्र को 'ऐतिहासिक परिदृश्य' में प्रथम स्थान दिया गया है। इस खण्ड में अंनेक अल्पज्ञात एवं उपेक्षित ऐतिहासिक–प्रसंगों, ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक स्थलों तथा प्रेरक–महापुरुषों पर भी लेख समाविष्ट हैं।

'सांस्कृतिक परंपराएं' में यहां की लोक संस्कृति, विभिन्न परंपराओं, उनके वैज्ञानिक पक्ष तथा कुछ प्रदर्शनकारी कला–प्रसंगों पर भी आलेख सम्मिलित किये गये हैं।

बुन्देलखण्ड आदिकाल से ही सूर्यपूजा की परंपरा तथा सूर्यमन्दिरों का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। भारतीय इतिहास और पुरातत्व के इस विशिष्ट प्रसंग पर भी प्रामाणिक–संदर्भो सहित एक शोधपत्र पाठकों के समक्ष इस संकलन के माध्यम से प्रथम बार सामने आ रहा है।

लगभग एक डेढ़ दशक पूर्व सात विधाओं की मेरी रचनाओं का संग्रह 'सप्तदल' नाम से प्रकाशित हुआ था। उसके दो संस्करण प्रकाशित हुये, किन्तु अब वह दोनों समाप्त हो गये हैं तथा पुस्तक अप्राप्य है। उसमें बुन्देलखण्ड के इतिहास तथा संस्कृति से संबंधि ात कुछ निबन्ध थे। उनमें से पाँच निबंधों को इस संग्रह में स्थान दिया गया है। इनमें से कुछ को नवीनतम प्राप्त जानकारी के आधार पर पुनरीक्षित किया गया है। बुन्देलखण्ड से संबंधित रचना संग्रह में एक ही स्थान पर उनका संयोजन एवं प्रकाशन उपयोगी होगा– ऐसा विश्वास है।

पुस्तक के दोनों खण्डों में संकलित निबंधों को और अधिक प्रभावी रुप में स्पष्ट करने के लिये परिशिष्ट में महत्वपूर्ण सामग्री दी जा रही है। बुन्देलखण्ड में बिखरी तीस देशी रियासतों के भारतीय संघ के अंतर्गत संयुक्त राज्य विन्ध्यप्रदेश में विलीनीकरण का ऐतिहासिक दस्तावेज 'सहमति पत्र' उस पर हस्ताक्षर करने वाले राजाओं तथा उनके अधिकृत प्रतिनिधियों के मूल हस्ताक्षरों सहित प्रथम बार परिशिष्ट के माध्यम से प्रकाश में आ रहा है। अनेक संबंधित मानचित्र बुन्देलखण्ड को समझने में सहायक होंगे।

बुन्देलखण्ड के इतिहास तथा संस्कृति में रूचि रखने वाले पाठकों को यह पुस्तक यदि बुन्देलखण्ड के ज्ञात–अज्ञात तथा अल्पज्ञात सांस्कृतिक पहलुओं पर कुछ नई तथा महत्वपूर्ण जानकारी देकर बुन्देलखण्ड के सांस्कृतिक वैभव का दर्शन करा सके एवं एक अभाव की पूर्ति कर सके तो इसका प्रकाशन सार्थक होगा।

सहमतिपत्र (मूल दस्तावेज की छायाप्रति) तथा बुन्देलखण्ड मुक्ति मोर्चा द्वारा प्रस्तावित "बुन्देलखण्ड राज्य" का मानचित्र मोर्चा के संस्थापक तथा हमारे मित्र स्व0 शंकर लाल मेहरोत्रा ने सात आठ वर्ष पूर्व मुझे उपलब्ध कराया था। भाषायी एवं सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड का मानचित्र 'बुन्देली लोक' बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी (छतरपुर–म0प्र0) के अध्यक्ष स्व.डा0 नर्मदा प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित पत्रिका 'मामुलिया' से, 'बुन्देलखण्ड का प्रशासनिक मानचित्र' भारतीय चारागाह शोध संस्थान झाँसी द्वारा प्रकाशित "एटलस ऑफ बुन्देलखण्ड" से, उत्तर प्रदेशीय बुन्देलखण्ड एवं मध्यप्रदेशीय बुन्देलखण्ड सम्भागों के मानचित्र सरकारी रिपोर्टो से साभार उदधृत किये जा रहे हैं। उत्तर प्रदेशीय बुन्देलखण्ड सम्भाग में हुये अनेक प्रशासनिक पुनर्गठनों की प्रमाणिक जानकारी झाँसी मण्डल की तत्कालीन आयुक्त श्रीमती स्तुति कक्कड़ आई0ए0एस0 के सौजन्य से प्राप्त हुई हैं। इन सभी के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा परम कर्तव्य है।

जनजाति एवं लोक कला/संस्कृति संस्थान उत्तर प्रदेश के निदेशक डा0 योगेन्द्र प्रताप सिंह ने इसके प्रकाशनार्थ संस्थान की ओर से प्रकाशन–अनुदान देकर सहयोग प्रदान किया। इससे इसका प्रकाशन संभव हो सका। मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूं। इसके मुद्रण को नयनाभिराम बनाने हेतु श्री कृष्ण मोहन मिश्र ने महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा प्रिन्टआर्ट आफसैट के स्वामी श्री अरूण जग्गी जी ने इसे सुरुचिपूर्ण ढंग से मुद्रित किया, इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र है।

सुधी पाठकों के अभिमत की प्रतीक्षा रहेगी।

अक्षय षष्ठी 2060 वि0
मण्डपम्, राठरोड, उरई (उ.प्र.)

अयोध्याप्रसाद गुप्त 'कुमुद'

अनुक्रम

सांस्कृतिक इतिहास

1. बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि 11
2. सभा की खोज रिपोर्टों में बुन्देलखण्ड संबंधी दो भूलें 31
3. कालप्रियनाथ सूर्य मन्दिरः सूर्य घाट से सुअरघटा तक 35
4. महोबा का किला 42
5. प्रथम स्वतंत्रता संग्रम का संचालन केन्द्र कालपी दुर्ग 45
6. एक और जलियांवाला बाग– हरचंदपुर 49
7. भारत में रावण का स्मारक–लंकामीनार 53
8. सुरम्य ऐतिहासिक स्थल–बरवासागर 57
9. माहिलः दुर्ग तथा तालाब 60
10. भगवान वेदव्यास 62
11. लोकदेवता हरदौल 67
12. महाराजा छत्रसाल 68
13. क्रान्तिनायक बरजोर सिंह 71

सांस्कृतिक परंपराएँ

1. बुन्देलखण्ड में सूर्य–पूजा की परंपरा 79
2. बुन्देलखण्ड का सांस्कृतिक स्वरुप 88
3. बुन्देलखण्ड की लोककलायें तथा शिल्प 94
4. बुन्देलखण्ड में फागों के विविध रूप 103
5. बुन्देलखण्ड में फड़बाजी तथा ख्यालबाजी 109
6. बुन्देली महिलाओं का लोकपर्व–कार्तिक नहान 112
7. टेसू 116
8. बुन्देली लोक परंपराओं की वैज्ञानिकता 123
9. कोंच की रामलीला 127
10. पारसी थियेटर का महत्वपूर्ण केन्द्र चरखारी 136

परिशिष्ट

1. सहमति पत्र (The Covenant) 141
2. मानचित्र 151

सांस्कृतिक इतिहास

1. बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
2. सभा की खोज रिपोर्टों में बुन्देलखण्ड संबंधी दो भूले
3. कालप्रियनाथ सूर्य मन्दिरः सूर्य घाट से सुअरघटा तक
4. महोबा का किला
5. प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का संचालन केन्द्र कालपी दुर्ग
6. एक और जलियांवाला बाग– हरचंदपुर
7. भारत में रावण का स्मारक–लंकामीनार
8. सुरम्य ऐतिहासिक स्थल–बरवासागर
9. माहिलः दुर्ग तथा तालाब
10. भगवान वेद व्यास
11. लोक देवता हरदौल
12. महाराजा छत्रसाल
13. क्रान्तिनायक बरजोर सिंह

बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

यमुना के दक्षिण से नर्मदा तक विस्तृत तथा विन्ध्यपर्वत मालाओं की गोद में स्थित बुन्देलखण्ड, देश के मध्यभाग में होने के कारण, भारत का हृदयस्थल कहा जाता है। प्राचीनकाल में पुलिन्द देश, चेदि, दशार्ण, जिजौति, जैजाकभुक्ति चिचिन्टो, मध्यदेश, युद्धदेश तथा बुन्देलखण्ड आदि नामों से विख्यात इस क्षेत्र को अब उत्तर प्रदेश पर्यटन विभाग नें नया नाम 'इन्द्रदेश' देकर अंतर्राष्ट्रीय पर्यटकों को आकर्षित करने की व्यापक योजना बनाई है।

सभी प्रकार के रत्नों, वनसंपदा, पुरातत्व, साहित्य संस्कृति और शौर्य से समृद्ध यह भूमि अपनी विशिष्ट भागौलिक स्थिति के कारण सभी कालखण्डों में देश के शासकों के लिये आकर्षण का केन्द्र रही है। कुछ विद्वानों ने शौरसैनी प्राकृत के महत्वपूर्ण काव्यग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ती' (रचनाकाल पांचवी–छठी सदी) में वर्णित 'विजयार्ध–प्रदेश' इसी क्षेत्र को माना है। उक्त ग्रंथ में विजयार्ध भूमि को उत्तम रत्नों में पद्मराग मणियों से समृद्ध बताया गया है। उसमें वज्रार्गल, बज्राढ्य, बज्राभ, सूर्याभ, चूड़ामणि, बज्रार्द्धतर, रत्नाकर, रत्नपुर जैसे मणिनामान्त या रत्नमणि नाम वाले अनेक नगर हैं। इससे उस भूमि के रत्नगर्भा होने के संकेत मिलते हैं।[1] बुन्देलखण्ड में आज भी अनेक प्रकार के रत्न एंव खनिज संपदा प्रचुर मात्रा में है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार विन्ध्याचल भारत की रीढ़ (पंजाबी में 'लक्क') है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार रावण की लंका कहीं विन्ध्यशिखर पर थी[2] स्वर्णमयी लंका को मणिरत्नों से समृद्ध बताया गया है। तिलोयपण्णत्ती के सापेक्ष लंका की भौगोलिक स्थिति का पुनः अध्ययन अपेक्षित है।

बुन्देलखण्ड की सीमाओं के बारे में यह लोकोक्ति प्रायः उदधृत की जाती है–

इत यमुना उत नर्मदा इत चंबल उत टौंस।
छत्रसाल सों लरन की रही न काहू हौंस।।

किन्तु यह बुन्देलखण्ड की सही सीमा नहीं है। यह बुन्देलखण्ड राज्य के विस्तारक महाराजा छत्रसाल के शौर्य की सीमा है। इसके अंतर्गत किसी को भी छत्रसाल से लड़ने का हौंसला नहीं था।

बुन्देलखण्ड की सीमाओं के निर्धारण में विद्वानों में मत भिन्नता है। कुछ विद्वान भौगोलिक आधार पर इसका सीमांकन करते हैं तो कुछ ऐतिहासिक आधार पर। कुछ आबादी के आधार पर इसका निर्धारण करते हैं तो कुछ सांस्कृतिक एकरूपता के आधार पर।

उत्तरप्रदेश शासन द्वारा बुन्देलखण्ड विकास निधि के प्रयोजन से सात जिले झांसी, ललितपुर, जालौन, हमीरपुर, महोबा बांदा तथा चित्रकूट इसमें सम्मिलित किये गये हैं। मध्यप्रदेश शासन ने बुन्देलखण्ड विकास प्राधिकरण के लिये पन्ना, छतरपुर, टीकमगढ़,

दतिया, सागर तथा दमोह को बुन्देलखण्ड माना है। भारत सरकार के झांसी स्थित भारतीय चारागाह शोध संस्थान ने अपने विभिन्न सर्वेक्षणों के प्रयोजन हेतु इन तेरह जिलों के साथ भिण्ड जिले की लहार तथा ग्वालियर जिले की भाण्डेर तहसील से समन्वित क्षेत्र को एक भौगोलिक इकाई मानकर 'बुन्देलखण्ड का एटलस' तैयार किया था। अब भाण्डेर दतिया जिले में सम्मिलित कर दिया गया है।

जनपदीय अध्ययन के मनीषी डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल प्राचीन जनपद को सांस्कृतिक भौगोलिक इकाई की संज्ञा देते हैं।[3] सिद्धांततः यह मत अधिक उचित है। इस मत के अनुसार उक्त तेरह जिलों तथा दो तहसीलों के अतिरिक्त मध्यप्रदेश के रायसेन, नरसिंहपुर जिले तथा निम्नांकित जिलों के आंशिक भाग भी इसमें आ जाते हैं। ग्वालियर जिले की पिछोर तथा करैरा तहसीलें, अशोकनगर जिले की मुंगावली, अशोकनगर विदिशा जिले की विदिशा, कुरवई, विदिशा, बसौदा तथा सिरौंज, शिवपुरी जिले की पिछौर, होशंगाबाद जिले की होशंगाबाद तथा सोहागपुर तथा जबलपुर जिले की जबलपुर तथा पाटन तहसीलें। बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति के अध्येता डा नर्मदा प्रसाद गुप्त भी सांस्कृतिक, भाषाई एवं भौगोलिक दृष्टि से लगभग यही सीमायें मानते हैं।4

प्राचीनकाल में यह क्षेत्र मुख्यतः वनाच्छादित था। देश के तीन प्रमुख प्राचीन वनप्रान्तों नैमिषारण्य, तुंगारण्य तथा दण्डकारण्य में से यह भूभाग तुंगारण्य के अंतर्गत आता था। तुंगारण्य की सीमायें ओरछा से चित्रकूट तक जाती थीं। वहां से दण्डकारण्य प्रारम्भ हो जाता था। इस वन प्रान्त में अनेक ऋषियों के आश्रम थे जिनमें पराशर, वेदव्यास, कर्दम, च्यवन जमदग्नि आदि प्रमुख रुप से उल्लेखनीय हैं। उस समय इस क्षेत्र में वनवासी जातियाँ पुलिन्द, शबर, कोल, गौंड, निषाद आदि निवास करतीं थीं। इस क्षेत्र में पाये गये लगभग एक सहस्त्र शैलाश्रयों में पाषाणयुगीन उपकरणों तथा आयुधों से इन वनवासी जातियों की जीवनशैली और संस्कृति के संबंध में विस्तृत जानकारी मिली है।

ऐतिहासिक दृष्टि से बुन्देलखण्ड का अस्तित्व सर्वप्रथम वैदिक काल में चेदि राष्ट्र के रुप में मिलता है। यह अग्नि तथा इंद्र की पूजा का केन्द्र था। वैवस्वत मनु की पुत्री का नाम इला था, जिसका विवाह सोम से हुआ था। इसी से ऐल अर्थात चंद्रवश की स्थापना हुई जिसका आदि पुरूष पुरुरवा था। पुरूरवा के अधीन ऐल साम्रज्य का विस्तार हुआ। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुये उसने वर्तमान बुन्देलखण्ड के क्षेत्र पर भी अधिकार कर लिया। पुरूरवा की चौथी पीढ़ी में हुआ ययाति इस क्षेत्र का शासक बना। उसने यह क्षेत्र अपने पुत्र यदु को दिया जिसको चर्मण्वती (चंबल) बेत्रवती (बेतवा) तथा शुक्तिमती (केन) की धाराओं से सिंचित प्रदेश प्राप्त हुआ। इन्हीं यदु से यादव वंश की स्थापना हुई।इसी यदुवंशी परंपरा के राजा कौशिक ने चर्मण्वती (चंबल) और शुक्तिमती (केन) के मध्य के प्रदेश (अर्थात बुन्देलखण्ड) में राज्य स्थापित किया, जो चेदि जनपद कहलाया। इसी काल में विदर्भ के एक प्रसिद्ध राजा भीमरथ की सुन्दरी कन्या दमयन्ती से नलपुर के राजा नल

ने विवाह किया था। अनुश्रुति के अनुसार नल ने ही नलपुर नगर बसाया था, जो आधुनिक शिवपुरी जिले में नरवर के रूप में विद्यमान है।[5] ऋग्वेद (8–5–37–39) में चेदि के एक शक्तिशाली राजा वसु की दानस्तुति भी मिलती है।

रामायण में इसका उल्लेख दशार्ण तथा दक्षिण कौशल के अंतर्गत मिलता है। भगवान राम के चौदह वर्ष की अवधि का अधिकांश भाग इस अंचल के चित्रकूट आदि में ही बीता था।[5]

महाभारत में चेदि राष्ट्र का उल्लेख विस्तार में प्राप्त होता है। इसकी राजधानी शुक्तिमती नगरी थी, जिसकी स्थिति वर्तमान बांदा जिले में केन नदी के किनारे मानी जाती है। चेदिनरेश शिशुपाल का मुख्यालय वर्तमान चंदेरी में होना बताया जाता है। श्रीकृष्ण द्वारा चेदिनरेश शिशुपाल का वध किया जाना सुविदित है। जनश्रुतियों के अनुसार पाण्डवों ने अपने अज्ञातवास का अधिकांश समय बुन्देलखण्ड में ही बिताया था। आज भी अनेक स्थल उनके नाम पर जाने जाते हैं।महाभारत के युद्ध में वत्स, काशी, चेदि, कारूष, दशार्ण और मत्स्य अर्थात् वर्तमान बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड की सीमाओं के जनपदों के राजा अपनी सेनाओं के साथ पाण्डवों की ओर से लड़ें थे। महाभारत एवं मेघदूत में दशार्ण प्रदेश का उल्लेख आया है, जिसकी राजधानी विदिशा थी।[5] पाणिनि के अष्टाध्यायी (4–2–116) में भी चेदि देश का उल्लेख है।

चेदिराष्ट्र का उल्लेख बौद्ध धर्मग्रन्थों में विस्तार से 'चेतिय रट्ठ' (चेदि राष्ट्र) के नाम से मिलता है। यह तत्कालीन सोलह महाजनपदों में से एक था। इसके पूर्व में काशि, पूर्वोत्तर में वत्स एवं कौशाम्बी, पश्चिम में अवन्ति, उत्तर पश्चिम में मत्स्य तथा सूरसेन और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत था। बुद्धकालीन भूगोल विशेषज्ञ श्री भरतसिंह उपाध्याय बौद्धकालीन चेदि जनपद को आधुनिक बुन्देलखण्ड से समीकृत करते हैं।[6] बौद्धग्रंथों के अनुसार भगवान बुद्ध ने अपने तेरहवें और उन्नीसवें वर्षाकाल बेतवा के आंचल में चेदि राज्य के भद्रावती नामक स्थान के चालुक्य पर्वत पर व्यतीत किये थे। अशोक कुमार मौदगल्यायन और राजकुमारी संघमित्रा का लालनपालन और शिक्षा संस्कार यहीं हुये और यहां की अपनी पाली भाषा में लिखित ग्रंथों को लेकर वे सुदूर देशों में धर्म प्रचारार्थ गये थे। यहीं से ईसा से नब्बे वर्ष पूर्व राजदूत हैलियो डोरस ने विदिशा में महाराज भागभद्र के दरबार में भागवत धर्म की दीक्षा ली थी और आन्तरिक आस्था के गरुणध्वज की स्थापना की थी।[7]

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी कालपी यात्रा के पश्चात् स्थानीय विद्वानों से चर्चा करते हुये बताया था कि बौद्धकाल में कालपी में बौद्ध विहार था तथा इसके निकट दक्षिणापथ एवं उत्तरापथ का संगम बिन्दु (वर्तमान भोगनीपुर) था। उन्होंने कालपी के चौरासी गुम्बज सहित अनेक भवनों को बौद्ध विहार का हिस्सा होने की संभावना जताई थी। इस क्षेत्र में जैनधर्म का भी व्यापक प्रभाव था। मुझे यह बात कोंच (जालौन) के स्व. पन्नालाल पहारिया ने बताई थीं। उनके पिताश्री स्वामी ब्रह्मानन्द (मूल नाम – रामदीन

पहारिया) आर्य समाज के प्रमुख प्रचारकों में थे। उनके पास राहुल जी (वैराग्य लेने के पूर्व) वेद पुराणों के अध्ययन के लिये आते थे। उनके मरणोपरान्त भी राहुल जी का पहारिया परिवार में प्रायः महेशपुरा तथा कोंच आना होता रहता था। यह परिवार मूलतः कोंच के सीमावर्ती गांव महेशपुरा का निवासी था।

मौर्यकाल में बुन्देलखण्ड मौर्य साम्राज्य का अंग था। सम्राट अशोक सत्ता संभालने के पूर्व इसका प्रांतपति रह चुका था। उसने विदिशा के एक साहूकार की कन्या से विवाह किया था। इस कन्या ने अशोक कुमार मौदगल्यायन और संघमित्रा को जन्म दिया था। जिन्होंने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।[8] अशोक ने अपनी इस वैश्यपुत्री 'रानी देवी' के लिये उज्जैन में एक विशाल स्तूप का निर्माण कराया। इस स्तूप के अवशेष आज भी 'वैश्य–टेकरी' नामक टीले के रूप में विद्यमान है। 'वैश्य टेकरी' के उत्खनन से इस स्तूप के अवशेष प्राप्त हुये हैं। साँची के स्तूप के निकट एक विहार के अवशेष भी मिले है । विद्वानो के अनुसार यह विहार संमवतः अशोक की 'रानी देवी' तथा उसकी सहचरी भिक्षुणियों के निवास के लिये बनवाया गया था।[9] सांची और भरहुत के बौद्ध–स्तूप तथा दतिया–उनाव बालाजी मार्ग पर गुजर्रा में अशोक का शिलालेख इस क्षेत्र में सम्राट अशोक की विशेष रुचि और सक्रियता के परिचायक हैं।

मौर्यवंश के अंतिम शासक वृहद्रथ को सत्ताच्युत करके पुष्यमित्र ने यहां शुंगवंश की पताका फहराई। बुन्देलखण्ड के एरिच क्षेत्र में सिक्कों तथा ईटों के माध्यम से मित्रवंश की नयी नामावली मिल जाने से इतिहास में एक नये अध्याय का प्रगटीकरण हुआ है।[10] अब तक के शोधों में इन्हें पुष्यमित्र से भिन्न वंश का बताया गया है। इनका शासनकाल 200 से 50 वर्ष ई. पूर्व प्रकाश में आया है। अब आगे इतिहासकारों को यह परखना है कि पुष्यमित्र के वंश से एरिच मित्र शासकों का क्या संबंध है ? अथवा यह सर्वथा नया राजवंश है ?

दर्शाण क्षेत्र में सत्ता का केन्द्र बने एरिच को बौद्धग्रंथों में 'एरिकच्छ' तथा 'एरिकछं' नाम दिया गया है। सिक्कों के अनुसार यहां के शासकों को 'दशार्णेश्वर', 'दशार्णधिपति' 'महासेनापति' की उपाधि दी गई है।[11]

शुंग वंश के पराभव के उपरान्त ईसा से लगभग 75 वर्ष पूर्व यहां कण्ववंश का शासन रहा। जिन्हें दक्षिण के सातवाहन शासकों ने अपदस्थ करके इस क्षेत्र में सातवाहन संस्कृति का प्रचार प्रसार किया। इसके पश्चात इस क्षेत्र में शक–छत्रपों का भी शासन रहा है । शक–क्षत्रप श्री दामन के सिक्के पिछोर से मिले हैं +++ तथा विदिशा एरण क्षेत्र मे राज्य करते हुये एक नये शक वंश के शासक श्रीधर वर्मन का एक अभिलेख एरण से, दूसरा साँची के निकट कानाखेरा से प्राप्त हुआ हैं ।[12] एरिच, एरण और विदिशा में नागवंशी शासकों के सिक्के भी प्रचुर मात्रा में मिले हैं। इन शैवमतावलंबी शासकों का राजचिन्ह दो सर्पों के मध्य शिवलिंग था। इस कारण इन्हें भारशिव भी कहा गया। इनकी राजधानी

भारगढ़ (वर्तमान बरगढ़, जिला चित्रकूट) में थी। नचना कांचन (पन्ना) तथा देवरदार(टीकमगढ़) में इस राजवंश के कलात्मक निर्माण पुरातत्व की धरोहर हैं।

इसी कालखण्ड में बीजोर–बागाट (जिला टीकमगढ़), जो चिरगांव (झांसी) से 10 किलोमीटर दूर वेतवा के उस पार स्थित है, के शैल गुहा क्षेत्र में वाकाटक वंश के उद्भव के प्रमाण मिले हैं। जिन वाकाटकों की देन अजन्ता की गुफायें हैं, उनकी वैसी ही गेरूए रंग की शैल चित्रकला बागाट की द्रोण–तलैया की गुफाओं में मिलती है।[13] सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'अंधकार युगीन भारत' में उन्हें द्रोण का वंशज बताते हुये 'बाकाटक' से 'बागाट' नामकरण होने का संकेत दिया है। इस वंश के प्रतापी राजा भीमसेन ने 'विन्ध्यशक्ति' की उपाधि धारण की और पूर्वी बुन्देलखण्ड के भाग को जीतकर किलकिला नदी के तट पर पन्ना को अपना केन्द्र बनाया। प्रवरसेन का विवाह नागवंशी राजकुमारी (भवनाग की पुत्री) गौतमी से हुआ तथा उसे नागवंशी राज्य का एक भाग उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ।[14]

प्रवरसेन का साम्राज्य उत्तर में यमुना और आधुनिक बुन्देलखण्ड से लेकर दक्षिण में हैदराबाद तक फैला हुआ था। उसने सम्राट की उपाधि धारण की तथा चार अश्वमेघ यज्ञ किये थे। वाकाटक कितने शक्तिशाली थे, इसका अनुमान इससे हो सकता है कि समुद्र गुप्त जब दक्षिण में अपनी विजय यात्रा पर निकला तो बाकाटक साम्राज्य की सीमायें बचाता गया। उसकी इलाहाबाद प्रशस्ति में कहीं भी वाकाटकों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने तो अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक सम्राट रुद्रसेन द्वितीय से करके वाकाटक सम्राटों से अपने मैत्रीपूर्ण संबंध और अधिक दृढ़ कर लिये थे।

319 ई0 से पांचवी सदी के अंत तक बुन्देलखण्ड गुप्त वंश के अधीन रहा। जहां उनके द्वारा निर्मित कराये गये दशावतार मन्दिर (देवगढ़)जैसे भव्य अवशेष अभी भी विद्यमान हैं। ऐरण में बुधगुप्त का प्रशस्ति लेख भी इस अंचल में भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग में गुप्त शासकों के कृतित्व का उल्लेख करता है। गुप्तशासक मातृविष्णु के निधनोपरान्त उनके भाई धान्य विष्णु ने अपनी सत्ता हूणराज तोरमाण को हस्तान्तरित करके इस क्षेत्र को हूणों के अधीन बनाया किन्तु सम्राट नरसिंह बालादित्य ने तोरमाण के पुत्र एवं उत्तराधिकारी मिहिरकुल को पराजित कर दिया। जिससे वह मध्य भारत छोड़कर कश्मीर की ओर चला गया।[15] बुन्देखण्ड में प्राप्त अभिलेखों से पता चलता है कि 5वीं सदी ई0 मे जब उत्तर भारत पर गुप्त का आधिपत्य था , उस समय पन्ना जिले मे परिब्राजक नामक वंश के राजाओ का राज्य चला हुआ था । ये गुप्त – सम्राटों के माण्डकिल हो गये थे तथा उनकी प्रभुसत्ता स्वीकार करते थे ।[16]

गुप्त शासकों के पश्चात् इस क्षेत्र में अल्पज्ञात पाण्डुवंशी शासकों के अस्तित्व का पता चलता है। तत्पश्चात् यह क्षेत्र वर्धन राज्य का अंग बन गया। इस वंश

के सर्वाधिक यशस्वी शासक हर्ष के काल में इस क्षेत्र में कला संस्कृति खूब फूली फली। उसके राजकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में विन्ध्य क्षेत्र का विस्तार से वर्णन किया है। कालपी के निकट पुराणकालीन कालप्रियनाथ सूर्यमन्दिर का पुनर्निर्माण इसी काल में हुआ तथा वहां लगने वाले चर्चित वार्षिक मेला 'कालप्रियनाथ–यात्रा' के दौरान भवभूति के नाटक 'उत्तर राम चरितम्' का प्रथम मंचन एवं अन्य नाटकों का भी मंचन हुआ।[17] हर्ष के शासनकाल में चीनीयात्री ह्वेनसांग ने इस क्षेत्र को 'चिचिन्टो' लिखा। कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि चित्रकूट के कारण ही उसने यह नाम दिया।

वर्धन शासकों के पश्चात् यहां प्रतीहारों कल्चुरि तथा हैहय शासकों ने भी राज्य किया। अमरकंटक का कर्णदहिया मन्दिर, तीन शिखरों युक्त देवालयों का समूह, भेडाघाट का चौंसठ जोगिनी मन्दिर तथा गौरीशंकर मन्दिर कल्चुरि राजवंश की ही देन है।

इसके पश्चात् इस क्षेत्र में गौरवशाली चन्देल वंश का उदय हुआ। चन्देलवंश के प्रथम शासक नन्नुक की तीसरी पीढ़ी में जयशक्ति उर्फ जेजा के नाम पर इस क्षेत्र का नाम 'जैजाकभुक्ति' के रुप में चर्चित हुआ। उनकी राजधानी महोत्सव नगर (वर्तमान महोबा) कला संस्कृति का केन्द्र बनी। चन्देलों ने प्रतीहारों के अधीन सामन्तों के रुप में सेवा करते हुये, कई पीढ़ियों तक उनकी अधीनता के पश्चात् महाराजा धंग के पराक्रम से चन्देल वंश की स्वतंत्र सत्ता इस क्षेत्र में महोबा को केन्द्र बनाकर स्थापित की। चन्देल शासक हर्ष और यशोवर्मन जैसे शासक भी स्वयं स्वतंत्र शासकों जैसी सत्ता स्थापित करके भी प्रतीहारों की अधीनता स्वीकार करते आये थे।[18] धंग ने इस इतिहास को बदलकर चन्देलवंश को स्वतंत्र शासकों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया। इसके पूर्व बुन्देलखण्ड बाहरी शासकों का शासित क्षेत्र था। पहली बार इस क्षेत्र के राजवंश ने अपनी सत्ता देश के दूरभागों तक फैलाकर बुन्देलखण्ड की यशोपताका फहराई इसलिए इसकी चर्चा कुछ विस्तार में करना आवश्यक है। उसने कान्यकुब्ज के शासक को पराजित किया, ग्वालियर का किला (गोपाद्रि गिरि) प्रतीहारों से जीतकर स्वयं को सर्वसत्ताधीश घोषित कर दिया तथा चन्देलों में उसने सर्वप्रथम महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। वह सौ वर्ष तक जीवित रहा।[18]

इस वंश में 831 ई. से 1315 तक लगभग पांच सौ वर्ष शासन करने वाले निम्नलिखित प्रमुख शासक हुये। नन्नुक (831–850) वाक्पति (850–870) जयशक्ति तथा विजयशक्ति (870–890) राहिलदेव (890–910) हर्षदेव (910–930) यशोवर्मन (930–950) धंगदेव (950–1002) गण्डदेव (1003–1025) विद्याधर (1025–1035) विजयपाल (1035–1045) देववर्मन (1045–1060) कीर्तिवर्मन देव (1060–1100) सलक्षण वर्मन (1100–1110) जयवर्मन (1110–1120) पृथ्वीवर्मन(1120–1128) मदन वर्मन (1128–1160) यशोवर्मन द्वितीय (1160–1165) परमर्दिदेव (1165–1203) त्रैलोक्य वर्मन (1204–1242) वीरवर्मन (1242–1286) भोजवर्मन (1286–1290) हमीर वर्मन (1290–1315) इनमें मदन, वर्मा तथा उनके पौत्र परिमर्दिदेव विशेष रुप से उल्लेखनीय शासक हुये।

इन चन्देल शासकों की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने इस पर्वतीय और वनप्रदेश में नगरीय स्थापन, नागर व्यवस्थाओं का विस्तार कृषि विकास, सिंचाई साधनों के रुप में बड़े बड़े जलाशयों का निर्माण, दुर्ग, महलों तथा देवालयों का निर्माण कराकर बुन्देलखण्ड को वन प्रान्त से नगर क्षेत्र में परिवर्तित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया था। तमाम सारी विकास योजनाओं के बाबजूद आजतक चन्देलकालीन जलाशय बुन्देलखण्ड में सिंचाई का श्रेष्ठतम साधन हैं। चन्देलों के शासनकाल में चन्देलकालीन स्थापत्य कला और संस्कृति खूब फली फूली। इस काल में मूर्तिकला का परिष्कृत स्वरुप देखने को मिला। विश्वप्रसिद्ध खजुराहो मंदिरों जैसी सांस्कृतिक धरोहरों का निर्माण चन्देलों की ही देन है।

दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान और परमर्दिदेव (परमाल) के मध्य अनेक लड़ाइयां हुई जिनमें परमाल के एक सामन्त दस्सराज बनाफर के पुत्रों आल्हा ऊदल की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इनके शौर्य के कारण इन्हें आल्हा की बावन लड़ाइयों के नाम से जाना जाता है। यद्यपि लड़ाइयों की संख्या पर विद्वानों में मतभेद है। इस लेख में हम उस विवाद में नहीं पड़ना चाहते हैं पृथ्वीराज चौहान परमाल के राजकवि चंद वरदाई ने 'पृथ्वीराज रासऊ' के महोबा खण्ड में इनमें से कुछ लड़ाइयों का वर्णन अपने अपने ढंग से किया है। रामचरितमानस के पश्चात् आल्हाखण्ड देश का सर्वाधिक लोकप्रिय जनकाव्य है जिसे देश के बड़े भूभाग में बड़े चाव के साथ गाया और सुना जाता है।

यहां एक और महत्वपूर्ण प्रसंग की चर्चा आवश्यक है। परमाल ने अपने एक सामन्त वासुदेव परिहार की पुत्री से विवाह करके वासुदेव को उरई कोटरा का शासक बना दिया। वासुदेव ने अपने बड़े पुत्र माहिल को उरई तथा छोटे पुत्र भोपतशाह को कोटरा का राज्य देकर वहां के किले सौंप दिये। माहिल ने उरई की गद्दी पर बैठते ही भोपतशाह से कोटरा का राज्य छीन लिया। भोपत ने अपने बहनोई परमाल से मदद मांगी। परमाल ने उरई पर आक्रमण की योजना बनाई। इसके जबाब में चतुर कूटनीतिज्ञ माहिल ने परमाल के शत्रु दिल्लीपति पृथ्वीराज चौहान से मित्रता कर ली। परमाल के साले होने के कारण यही माहिल 'जगतमामा' बन गये। परमाल के राजकवि जगनिक ने अपने आल्हखण्ड में अपने संरक्षक राजा के शत्रु 'माहिल' को 'चुगलखोर माहिल' के रूप में चित्रित किया। चारण कवि के रूप में अपने राजा के शत्रु को यह संज्ञा देकर तथा उसका ऐसा चरित्र गढ़कर उसने कुछ भी अस्वाभाविक कार्य नहीं किया। किन्तु अब आल्हखण्ड को छोड़कर अन्य अभिलेखों के सापेक्ष कूटनीतिज्ञ माहिल के चरित्र के पुर्नमूल्यांकन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।[19] माहिल पुत्र अभई ने परमाल की ओर से युद्ध करते हुये महोबा में आत्मोसर्ग करके माहिल पर लगे कलंक को धो दिया था।

पृथ्वीराज और परमाल के बीच आखिरी लड़ाई के स्थान को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहाकारों ने इसे जालौन जनपद में'अकोड़ी' तथा 'बैरागढ़' अलग

अलग मानकर उन स्थानों के पक्ष में तर्क दिये हैं[20] जबकि वास्तविकता यह है कि यह स्थान एक ही मैदान के दो छोर हैं। इस प्रकार अंतिम लड़ाई अकोड़ी तथा बैरागढ़ के बीच मैदान में हुई। आल्हा ने यहाँ 'जयतिस्तम्भ' (सांग) गाड़कर मांशारदा देवी से विजय का वरिदान मांगा था अतः इसे 'जैतखम्भ की लड़ाई' भी कहते हैं। इस युद्ध में चन्देलों के पराभव के फलस्वरूप इस क्षेत्र का बड़ा भाग पृथ्वीराज चौहान तथा उसके बाद कुतुबुद्दीन एबक एवं दिल्ली के अन्य शासकों के अधिकार में चला गया तथा पूरा क्षेत्र छोटी छोटी जागीरों में बंट गया। उन्हीं में से एक गढ़कुण्डार खंगार शासकों की राजधानी के रूप में शक्ति का प्रमुख केन्द्र बन गया था।

इस बीच एक महत्वपूर्ण घटना घटी। काशी के गहिरवार क्षत्रियवंश के हेमकरन पारिवारिक विवादवश निर्वासित एवं सत्ताच्युत होकर विन्ध्यवासिनी देव की शरण में चले गये। एक लोकश्रुति के अनुसार उन्होंने अपने रक्त की बूंदों से देवी का अभिषेक किया। पांच बार रक्त की बूदों से अभिषेक के कारण उनका नाम पंचम बुन्देला पड़ा। और वह बुन्देलों के 'आदि पुरुष' के रुप में विख्यात हुये। देवी से वरदान पाकर तथा यहीं रहकर शक्ति संचय कर उन्होंने मिहौनी को अपनी राजधानी बनाया तथा पंचम ने अपना खोया हुआ काशी राज्य प्राप्त कर लिया।[21] उसके पुत्र वीर भद्र ने अपने राज्य की सीमायें दक्षिण पश्चिम की ओर अधिक बढ़ाकर मऊ मिहौनी को अपनी राजधानी बनाया।इस स्थान का नाम महोनी भी लिखा जाता है। लालकवि ने छत्रप्रकाश में "सोष्यौ वीरपुत्र कौ पानी, करी महोनी में राजधानी"[22] लिखकर इसकी पुष्टि की है।

बुन्देला शासक वीरभद्र से अर्जुनपाल तक, लगभग एक सौ साठ वर्ष तक, मिहौनी बुन्देलों की राजधानी रही। इनका शासनकाल निम्न प्रकार रहा। वीरभद्र (1071–1087 ई.) कर्णपाल(1087–1112ई.) कन्नरशाह (1112–1130ई.) शौनकदेव(1130–1152 ई.) नौनकदेव (1152–1169 ई.) मोहनपति (1169–1196 ई.) अभ्यभूति (1197–1215 ई.) अर्जुनपाल (1215–1231 ई.)।

अर्जुनपाल के तीन पुत्र थे। एक रानी से सोहनपाल तथा दूसरी रानी से वीरपाल एवं दयालपाल। अर्जुनपाल की मृत्यु के पश्चात् सोहनपाल को सिंहासन मिला। किन्तु उसके दोनों भाइयों ने उसे सत्ता सत्ताच्युत करके निर्वासित कर दिया। सोहनलाल ने शक्तिसंचय कर खंगार सत्ता के केन्द्र गढ़कुण्डार को लक्ष्य बनाया। तथा उसके राजा की हत्या करके गढ़कुण्डार पर कब्जा करके उसे राजधानी बनाया वाद में मिहौनी राज्य को भी अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार गढ़कुण्डार बुन्देलों की राजधानी बनी। उसके पुत्र सहजेन्द्र ने राज्य का विस्तार कालपी तक करके अपनी शक्ति का परिचय दिया। उसके वंशज 1531 ई. तक गढ़कुण्डार से ही शासन करते रहे। इसी वंश के एक राजा रुद्रप्रताप ने ओरछा को राजधानी बनाने का निश्चय किया तथा वैशाखसुदी 13 सं. 1588 (तदनुसार 21 अप्रैल 1531 ई.) को ओरछा की नींव डाली तथा उसे अपनी राजधानी बनाया। संभवतः

इसी समय से इस क्षेत्र का नाम विन्ध्येलखण्ड (बुन्देलखण्ड)[23] पड़ा। इसके पूर्व कहीं भी 'बुन्देलखण्ड' शब्द पढ़ने सुनने में नहीं आया। इस वंश के राजाओं की उपाधि इस प्रकार थी " श्रीसूर्य कुलावतंश काशीश्वर पंचम ग्रहरवार विन्ध्येलखण्ड मण्डलाधीश्वर श्री महाराजाधिराज श्री ओरछा नरेश..... "

राजा रुद्रप्रताप की मृत्यु एक चीते से गाय की रक्षा करते समय 1531 में हो गई। तदनन्तर उनके दो पुत्रों भारतीचन्द्र (1531–1534) तथा मधुकरशाह (1554–1592) ने राज्य किया। यह दोनों भाई अत्यन्त वीर तथा स्वाभिमानी थे। भारती चन्द्र ने शेरशाह सूरी को पराजित करके भगा दिया था तथा मधुकर शाह सम्राट अकबर के निषेधादेश के बावजूद कृष्णानन्दी टीका लगाकर उनके दरबार में गये। वह जानते थे कि सम्राट अकबर के आदेश के उल्लंघन की सजा गरम लोहे से माथा दाग देने की है किन्तु उन्होंने स्वाभिमान की खातिर इसकी परवाह नहीं की। अकबर द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह टीका उनकी 'आन–बान' है, वह मरना पसन्द करेंगे किन्तु टीका लगाना नहीं छोड़ेगे। अकबर भले ही मन में कुढ़ता रहा होगा किन्तु उसने मधुकरशाह के स्वाभिमान की दरबार में प्रशंसा की तथा उस टीके को 'मधुकरशाही टीका' कहने का आदेश दिया। इससे इस टीके को सम्मानसूचक ख्याति मिली। इन्हीं मधुकरशाह की रानी गनेशकुंअरि सं. 1631 में 'रामराजा' को अयोध्या से ओरछा ले आई तथा उन्हें नौचौकिया महल में प्रतिष्ठित किया। त्व से रामराजा वहीं विराजमान हैं। ओरछा में राम आज भी राजा हैं तथा उन्हें प्रतिदिन सशस्त्र सलामी दी जाती है। मधुकरशाह कला संस्कृति के प्रेमी थे। आचार्य केशवदास इन्हीं के आश्रित कवि थे।

मधुकरशाह के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र रामशाह गद्दी पर बैठे। वह कामकाज में अधिक दक्ष नहीं थे तथा उन्होंने अपने राजकाज का संचालन सूत्र अपने छोटे भाई इंद्रजीत सिंह को दे रक्खा था। इनके शासनकाल में ओरछा का अखाड़ा कला, संगीत, नृत्य तथा साहित्य का महत्वपूर्ण केन्द्र था। महाकवि केशव की एक शिष्या कवयित्री तथा नर्तकी रायप्रवीन इन्हीं इंद्रजीत सिंह की प्रेयसी तथा उनके दरबार में नर्तकियों की प्रधान थी। वह इंद्रजीत सिंह को पतितुल्य तथा पति व्रतकर्म का पालन करती थी। रायप्रवीन के सौन्दर्य तथा गुणों की चर्चा सम्राट अकबर के दरबार तक पहुंची। उसने ओरछा दरबार को आदेश भेजा कि रायप्रवीन को मुगलदरबार में आगरा भेज दिया जाय। इंद्रजीत सिंह द्वारा उसे भेजने से इंकार करने पर अकबर ने ओरछा राज्य पर एक करोड़ रुपया अर्थदण्ड लगा दिया तथा अपने एक सिपहसालार को भेजकर बलात् रायप्रवीन को ओरछा से आगरा मंगा लिया। अकबर ने उसके सामने प्रणय–प्रस्ताव रक्खा। इस पर उसने एक स्वरचित दोहा सुनाया–

"बिनती रायप्रवीन की, सुनिये साह सुजान।
जूठी पातर भकत हैं बारी, वायस, स्वान।।"

अकबर दोहा सुनकर मन ही मन लज्जित हुआ तथा ग्लानि से भर गया। उसने ओरछा राज्य पर लगा एक करोड़ रुपया दण्ड माफ कर दिया तथा रायप्रवीन को ससम्मान ओरछा वापिस भेज दिया।

इस बीच ओरछा नरेश रामशाह के एक अन्य छोटे भाई वीरसिंहदेव ने अकबर के पुत्र सलीम से मित्रता कर ली। इन दिनों सलीम राज्य प्राप्ति हेतु अकबर के विरूद्ध योजना बना रहे थे। उसमें अकबर का प्रमुख सलाहकार अबुलफजल बाधक था। वीरसिंहदेव ने सम्राट अकबर की नाराजगी की चिन्ता किये बिना उसके प्रमुख सलाहकार अबुलफजल का सिर काटकर सलीम के पास इलाहाबाद भेज दिया। इससे सलीम (जहांगीर) अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा उसने सम्राट बनते ही ओरछा के सिंहासन से रामशाह को अपदस्थ करके वीरसिंहदेव को ओरछेश बनाने में मदद की। वीरसिंहदेव ओरछा राज्य के योग्यतम शासक सिद्ध हुये। उनका शासनकाल बुन्देला साम्राज्य का 'स्वर्णयुग' माना जाता है। उन्होंने माघ सुदी पंचमी सं. 1675 (सन् 1618) को ओरछा राज्य के बावन भवनों का शिलान्यास कराया था। उनके शासनकाल में अनेक महलों, किलों, गढ़ियों बाबड़ी तथा सरोवरों का निर्माण हुआ। वीरसिंहदेव अपनी दानवीरता तथा न्यायप्रियता के दुर्लभ उदाहरण थे। उन्होंने 1614 ई. मथुरा में 81 मन का तुलादान कर स्वर्णदान दिया था। अपने पुत्र जगतदेव को उन्होंने शिकारी कुत्तों से जनता दरबार में सार्वजनिक रूप से इसलिये मरवा डाला था क्योंकि उसने एक साधु को शिकारी कुत्ते से मरवा डाला था।

वीरसिंहदेव के मृत्यु के उपरान्त सम्राट जहांगीर की कृपा से उनके ज्येष्ठ पुत्र जुझारसिंह ओरछा के शासक बने। इन्होनें अपने छोटे भाई लाला हरदौल दिवान को अपनी पत्नी से अनुचित संबंधों के संदेह में अपनी रानी से ही विषपान कराया था। भाभी को मातृतुल्य मानने वाले लाला हरदौल लोकदेवता बनकर अमरत्व पा गये किन्तु जुझारसिंह के कृत्य की सजा उन्हें ईश्वर ने दी। चौरागढ़ में शाहजहाँ की सेनाओं के व्यूह में फंसे जुझारसिंह को बुन्देले सैनिकों ने ही तलवार और कटार भोंककर मार डालना चाहा परन्तु तभी शाही सैनिक उन टूट पड़े और उन्होनें अधिकांश बुन्देलों को मारकर उनकी स्त्रियों को बन्दी बना लिया। जुझारसिंह अपने पुत्र विक्रमाजीत के साथ जंगलों में भाग गये। वहां गौंड़ों ने उन्हें मार डाला तथा सिर काटकर शाहजहां के पास भेज दिये गये। अन्य विद्राहियों के सम्मुख शाही प्रतिशोध का भयानक उदाहरण उपस्थित करने के लिये, सम्राट के आदेशनुसार, ये कटे हुये सिर सीहोर नगर के दरवाजों पर टांग दिये गये। राजकुमारों को मुसलमान बना दिया गया तथा स्त्रियों को धर्म परिवर्तन के पश्चात् मुगल काल में अपमानजनक जीवन व्यतीत करने के लिये भेज दिया गया।[24]

जुझारसिंह के पश्चात् उनका भाई देवीसिंह शासक बना किन्तु वह शासन अधिक दिन नहीं चला सका। पारिवारिक कलह का लाभ उठाकर मुगलों ने राज्य पर अधिकार कर लिया। इसके प्रतिरोध में बुन्देलावंश के एक साहसी युवक चंपतराय ने, जो

अपनी मां के साथ ग्राम कटेरा में रहने लगे थे, बुन्देलों को पुनः संगठित करके मुगलों के विरुद्ध झण्डा उठाया तथा पहाड़ी क्षेत्रों में छापामार युद्ध शैली से औरंगजेब को खूब छकाया। किन्तु जीवन के अंतिमचरण में अपने द्वारा उपकृत राजा इंद्रमणि धंधेरा के संरक्षण में रहते हुये, उसके विश्वासघात के शिकार हो गये। धंधेरे सैनिकों ने उन पर हमला कर दिया। चंपतराय तथा उनकी पत्नी लालकुंवर ने आत्महत्या कर ली। चंपतराय का सिर काटकर उसे औरंगजेब के दरबार में प्रस्तुत किया गया।

इन्हीं चंपतराय के पुत्र महाराजा छत्रसाल हुये। उन्होंने अपने पराक्रम और सूझबूझ से मुगलों का सफाया कर इस क्षेत्र में बुन्देला राज्य की पुनः स्थापना की तथा बुन्देलखण्ड का सर्वाधिक विस्तार किया। उन्होंने पन्ना को राजधानी बनाकर शासन का संचालन किया। उन्होंने देश में हिन्दू शक्तियों को संगठित करने के लिये शिवाजी से भेंट की। स्वाभिमानी छत्रसाल की प्रशंसा में महाकवि भूषण ने 'छत्रसाल–दशक' लिखा। छत्रसाल के जीवन के अंतिम चरण में फर्रुखाबाद के नवाब बंगश ने उन पर आक्रमण कर दिया। उस समय तक उनके सैनिक उदासीन हो गये थे। उनकी सेनायें सामर्थ्य और अभ्यास खों चुकीं थीं। उन्होंने पूना के पेशवा बाजीराव से सैन्य सहायता मांगी। उन्हें भेजे गये पत्रों में छत्रसाल ने यह मार्मिक पंक्तियां लिखी–

जो गति भई गजेन्द्र की, सो गति पहुंची आय।
बाजी जात बुंदेल की, राखौ बाजीराय।।

छत्रसाल ने बाजीराव को अपने पुत्रवत् मानने का आश्वासन दिया। बाजीराव ने एक सन्धि के आधार पर सहयोग किया। छत्रसाल की विजय हुई। छत्रसाल के मरणोपरान्त सन्धि के अनुसार बुन्देलखण्ड का एक तिहाई भाग पेशवा को दिया गया। इस प्रकार बुन्देलखण्ड के एक बड़े भूभाग पर मरहठों का शासन स्थापित हो गया। सागर, गुरसरांय तथा जालौन इसके प्रमुख केन्द्र बने। इस गैरक्षेत्रीय मराठा सत्ता ने बुन्देलखण्ड पर उपनिवेश की भांति शासन किया।

छत्रसाल एक बड़े परिवार के मुखिया थे। उनकी रानियों तथा पुत्रों की संख्या पर इतिहासकारों में मतभेद है तथापि रानियों की संख्या 19 तथा पुत्रों की संख्या 68 बताई जाती है।[25] कुंवर कन्हैया जू उनके 64 पुत्रों का उल्लेख करते हैं जिनमें से केवल 52 पुत्रों को वह छत्रसाल का औरस पुत्र मानते हैं, शेष को मुंह बोला या दत्तक पुत्र मानते हैं।[26] सैयद लतीफ से संबंधित एक लोकगीत[27] में भी 'राजा छतारे के बावन बेटा, मेरौ अकेलौ सैयद गाजी' कहकर उनके बावन पुत्रों का उल्लेख हैं अतः प्रायः यही संख्या मानी जाती है। इतने विशाल परिवार के बंटवारे में उनका राज्य छोटी छोटी रियासतों में बंट गया। ज्येष्ठ पुत्र हिरदेशाह को पन्ना तथा जगतराज को जैतपुर राज्य दिया गया। पन्ना में हिरदेशाह (1732–39) के पश्चात् उनके पुत्र सभासिंह (1739–52) तत्पश्चात् उनके पुत्र अमानसिंह (1752–58) एवं हिन्दूपत (1758–76) तत्पश्चात् हिन्दूपत के पुत्र अनिरुद्ध सिंह

(1776–80) गद्दी पर बैठे तत्पश्चात् पारिवारिक कलह में उनका राज्य विखण्डित हो गया। जगतराज के ग्यारह पुत्र थे। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र कीरतसिंह को जैतपुर राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर के शेष पुत्रों को सात बड़ी जागीरें दीं।[28] कुछ वर्षो पश्चात् ओरछा के दिवान हरदौल को प्रदत्त राज्य (बड़ागांव) उनके उत्तराधिकारी रायसिंह के आठ पुत्रों में, आठ राज्यों में, विभक्त हो गया। इसमें आठ गढ़ियां होने के कारण यह 'अष्टगढी राज्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गैरक्षेत्रीय मरहठों ने बुन्देलों की इस कलह का पूरा लाभ उठाया। परिणामस्वरुप बुन्देलों और मरहठों में भी विवाद बढ़ते गये। मरहठों ने अपने बाहुबल में वृद्धि के लिये आतंक के पर्याय अमीर खां पिण्डारी को संरक्षण दिया। 1761 ई. के पश्चात् इन्दौर के होल्कर मल्हाराव ने कोंच में अपना प्रभाव बढ़ाकर सत्ता स्थापित कर ली तथा इस क्षेत्र में होल्कर संरक्षित पिण्डारियों का केन्द्र बनवाया। अंग्रेजों ने इस क्षेत्र को यशवन्तराव होल्कर की पुत्री बीमाबाई साहिबा को देने पर सहमति व्यक्त की। 1802 में बेसीन की सन्धि द्वारा बुन्देलखण्ड मरहठो के शासन से निकलकर ईस्टइंडिया कंपनी के अंतर्गत आ गया तथा इस क्षेत्र में अंग्रेजी हुकूमत प्रारम्भ हो गई।

उस समय बुन्देलखण्ड के अधिकांश राज्य और रियासतें मराठा आतंक से परेशान थे तथा सुरक्षा की तलाश में थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उनकी इस विवशता का लाभ कूटनीतिक ढंग से उठाया तथा उनसे संधि या समझौते करके सनद के माध्यम से कम्पनी के अधीन वफादार राज्य बनाया। तीन प्रमुख राज्यों ओरछा, दतिया तथा समथर को सन्धि के आधार पर समानता एवं मैत्री का दर्जा देकर 'सन्धि–राज्य' बनाया। 27 छोटी रियासतों से अनुबंध करके उन्हें 'सनद–राज्य' का दर्जा दिया तथा उन्हें सुरक्षा की गारंटी दी। सनद–राज्य निम्नप्रकार थे– पन्ना चरखारी, अजयगढ़, बिजावर, छतरपुर, बावनी, बरौधा आलीपुर, बंका पहाड़ी, बेरी, भैसुण्डा, बीहट, बिजना, धुरबई, गरौली, गौरिहार, जसौं, जिगनी, कामता–रजौला, खनियाधाना, लुगासी, नैगवां–रिबई, पहरा, पालदेव, सरीला, तरौन, टोड़ीफतेहपुर।[29]

इन संधियों तथा समझौते से कंपनी सरकार को सभी राज्यों से बेरोकटोक सेना आने जाने तथा उत्तराधिकार के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया था। अपने अपने राज्यों में उपद्रव लूट या अराजकता का दमन स्थानीय राज्य का दायित्व था। इन राज्यों से समन्वय के लिये 1843 ई. में कंपनी ने नौगांव में सैन्य छावनी भी स्थापित की, जहां सभी राज्यों को प्रतिनिधि रखने की अनिवार्यता थी। छावनी का सर्वोच्च अधिकारी 'पालिटिकल–एजेन्ट' कहलाता था।

कंपनी सरकार के अधीन बुन्देलखण्ड में सर्वप्रथम जनअसंतोष का प्रकटीकरण जालौन जिले के अमींटा–बिलायां ग्राम में 1804 में हुआ। अंग्रेजों की राजस्व वसूली के अपमानजनक तरीके से क्षुब्ध होकर वहां के दीवान जवाहर सिंह ने विद्रोह का बिगुल बजा

दिया तथा निकटवर्ती जमींदारों को भी संगठित किया। अंग्रेजों ने इस विद्रोह को कुचलने तथा अमींटा–बिलायां के दुर्ग को ध्वस्त करने बुन्देलखण्ड में नियुक्त सेनानायक फावसैट को भेजा। दीवान जवाहरसिंह ने अमीरखां पिण्डारी का सहयोग लिया। 22 मई 1804 को हुये भीषण संघर्ष में 50 अंग्रेज अधिकारी तथा अनेक सैनिक मारे गये। ब्रिटिश सेना की इस बड़ी पराजय का दण्ड सेनानायक फावसैट को भुगतना पड़ा। उसे हटा दिया गया। इस स्थान 'अमीटा बिलायाँ' को जालौन जिला गजेटियर में अमाँटा–मलाया[30] लिखा है, जो त्रुटिपूर्ण हैं। इसी अमींटा--बिलायां परिवार में आगे चलकर दीवान बरजोर सिंह क्रान्तिकारी हुये।

इसके कुछ दिनों बाद अंग्रेजों की नीति के विरुद्ध विद्रोह की लहर पूरे बुन्देलखण्ड तथा देश में फैलने लगी। पुरानी प्रथाओं एवं परंपराओं में परिवर्तन करके नई लगान वसूली उत्तराधिकार के अभाव में दत्तक पुत्र को मान्यता न देकर राज्य हड़पो नीति, विशेषाधिकारों की समाप्ति, निर्मम–वसूली, पुलिसिया दमन, सतीप्रथा निषेध ने इस विद्रोह के स्वर को और तेज कर दिया। जैतपुर के राजा पारीछत की विधवारानी राजो, झांसी के राजागंगाधर राव की विधवा रानी लक्ष्मीबाई तथा जालौन के राजा नाना गोविन्दराव की पत्नी ताईबाई को दत्तक पुत्र गोद लेने की अनुमति न देकर उनके राज्य हड़प लिये गये। इन समान कारणों से नाना साहब पेशवा के नेतृत्व में सत्तावनी क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। उधर मेरठ में चर्बी भरे कारतूस को लेकर मंगलपाण्डे का विद्रोह और इधर झांसी की रानी सहित बुन्देलखण्ड का विद्रोह विप्लव के रुप में सामने आया। 6जून 1857 को झोकन बाग झांसी में ब्रिटिश अधिकारियों का भारी पैमाने पर कत्ले आम करना इन स्वतंत्रता सेनानियों को मंहगा पड़ा। लगभग पाँच माह तक कालपी को केन्द्र बनाकर संघर्ष हुआ। चंदेलदुर्ग के एक हिस्से को मरहठों का कोषागार तथा भूमिगत शस्त्र निर्माणां बनाकर क्रान्तिकारियों ने पूरे क्षेत्र में अंग्रेजी शासन का मुकाबला किया। किन्तु झांसी की रानी तथा उनके साथी अंग्रेजी सेना के सामने न टिक सके और भारी जनधन की क्षति के बाद गोपालपुरा होते हुये ग्वालियर की ओर चले गये। अंत में 22 मई 1857 को कालपी के पतन के पश्चात् बुन्देलखण्ड में अंग्रेजों की सत्ता पूरी तरह स्थापित हो गई।

1862 में अंग्रेजों ने अधीनस्थ संघ की स्थापना करके यहां की सभी तीस रियासतों को उसके अधीन कर दिया। अधीनस्थ राजाओं ने 1877 में हुये विक्टोरिया दरबार में उन्हें अपनी महारानी स्वीकार किया। इसी वर्ष बुन्देलखण्ड की तीस रियासतों को सन्धिराज्य तथा सनद राज्य के बजाय नयी वर्गीकरण दस सलामी राज्य (सिलूटिड) तथा बीस गैर–सलामी राज्य (नान सलूटेड) कर दिया गया। सलूटेड राजाओं को 'हिज हाइनेस' की सम्मानित पदवी दी गई। पद प्रतिष्ठा के अनुसार तोपों की सलामी की संख्या निर्धारित की गई। सलामी वाले राज्य निम्न प्रकार थे – ओरछा (17 तोप) दतिया (15 तोप) समथर, पन्ना, चरखारी, अजयगढ़, बिजावर, छतरपुर, बावनी सभी (11 तोप) तथा बरौंधा 9 तोप। शेष बीस

राज्य नान सलूटेड में रखे गये।

सत्तावनी क्रान्ति में बुन्देलखण्ड के राजाओं की एकता देखकर इस क्षेत्र की सांस्कृतिक एवं राजनैतिक एकता को खण्डित करने के लिये प्रशासनिक सुविधा के बहाने अंग्रेजों ने 1886 में बुन्देलखण्ड को चार भागों में बांट दिया। सागर दमोह शाहगढ़ तथा जबलपुर क्षेत्र सेन्ट्रल प्राविंस (सीपी) में, झांसी, जालौन, बांदा, हमीरपुर, ललितपुर यूनाइटेड प्राविंस (यूपी) में, करैरा, पिछोर, भाण्डेर, शिवपुरी तथा लहार परिक्षेत्र सिंधिया राज्य में मिला दिये गये। शेष क्षेत्र बुन्देलखण्ड की छोटी छोटी रियासतों में बंटा रहा।

1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद देश में नई चेतना जाग्रत हुई तथा वैधानिक सुधारों की मांग उठने लगी। 1927 में एक ओर ब्रिटिश सरकार ने सरकार और रियासतों के बीच संबंध सुदृढ़ करने के लिये बटलर कमेटी गठित की दूसरी ओर देशी रियासतों में जनजागृति के लिये देशी राज्य लोक परिषद का गठन किया गया। जिसमें जनता के अधिकार राजाओं से जनता को सौंपने की मांग की गई।

देश के स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ बुन्देलखण्ड में भी क्रान्तिकारी तथा गान्धीवादी नेतृत्व सक्रिय हुये। एक ओर नेतृत्व पं. परमानंद, चन्द्रशेखर आजाद, भगवानदास माहौर, शिवराम मल्कापुरकर रहे थे तो दूसरी ओर रघुनाथ विनायक घुलेकर, स्वामी स्वराज्यानन्द, दीवान शत्रुघ्न सिंह, रानी राजेन्द्र कुमारी, पं. मन्नीलाल पाण्डे, बेनीमाधव तिवारी, चतुर्भुज शर्मा, प्रेमनारायण खरे, चतुर्भुज पाठक, रामसहाय तिवारी, रामकृष्ण वर्मा, मोहनलाल गौतम तथा लालाराम बाजपेयी आदि नेतृत्व कर रहे थे।

15 अगस्त 1947 को भारत की स्वाधीनता की घोषणा के साथ ही अंग्रेजों ने देशी राज्यों को सन्धियों तथा समझौतों से मुक्त कर दिया। इससे सभी राजागण अपने को स्वतंत्र राज्य मानकर राज्य न छोड़ने की पेशकश करने लगे। इस महत्वपूर्ण समय में देश के उप प्रधानमंत्री सरदार बल्लभ भाई पटेल ने गृहमंत्रालय के अंतर्गत रियासती विभाग गठित करके इन राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की पहल की। सर्वप्रथम, ओरछा के महाराजा वीरसिंह देव (द्वितीय) ने 17 दिसंबर 1947 को उत्तरदायी शासन की स्थापना की। 12 मार्च 1948 को सभी देशी राज्यों ने अपनी सत्ता त्यागकर उसके बदले में प्रिवीवर्स तथा विशेषाधिकार लेकर अपने अपने राज्यों का विलीनीकरण 'संयुक्त राज्य विन्ध्यप्रदेश' में करने पर सहमति व्यक्त कर दी। इस हेतु इसी दिन एक सहमति पत्र (कान्वेन्ट)लिखा गया जिसमें यह स्वीकार किया गया कि इस क्षेत्र के निवासियों का हित एक ऐसे राज्य की स्थापना द्वारा ही हो सकता है जो उक्त क्षेत्रों को मिलाकर गठित हो तथा उसकी एक विध ाायिका एक कार्यपालिका तथा एक न्यायपालिका हो। इस सहमति पत्र के फलस्वरुप 'संयुक्त राज्य विन्ध्यप्रदेश' का निर्माण हुआ जिसमें तीस राज्यों (सैलूटेड एवं नान सैलूटेड) के अतिरिक्त बघेलखण्ड के पांच अन्य राज्यों को सम्मिलित किया गया। इस नवनिर्मित राज्य की दो इकाइयां बुन्देलखण्ड तथा बघेलखण्ड बनाये गये। बुन्देलखण्ड राज्य का

मुख्यालय नौगॉव, मुख्यमंत्री कामताप्रसाद सक्सेना बनाये गये। रीवॉ राज्य के राजा के अधीन बघेलखण्ड के अंतर्गत रीवा मुख्यालय बनाया गया। इस सहमति पत्र की मंन्शा के अनुसार व्यवस्था न होने पर 20 दिसम्बर 1948 को एक विलय संधि (मर्जर एग्रीमेन्ट एण्ड स्पेशल प्रिवेलेजेज ऑफ रूलर्स) लिखी गई, जिसके द्वारा उक्त सभी देशी राज्यों ने संयुक्त राज्य विन्ध्यप्रदेश के स्थान पर एक जनवरी 1950 से 'विन्ध्यप्रदेश' राज्य बनाने पर सहमति प्रदान कर दी। भारतीय संविधान लागू होने के ठीक पूर्व उक्त 'विन्ध्यप्रदेश' में से कुछ विलीनीकृत राज्यों समथर, बावनी, चरखारी, सरीला, बेरी, जिगनी, बीहट, नैगुवां–रिबई तथा चौबे राज्यों को निकालकर उत्तरप्रदेश में मिलाया गया।

भारतीय संविधान लागू होने के बाद राज्यों के पुनर्गठन की आवश्यकता अनुभव की गई। इस हेतु प्रथम बार 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग गठित किया गया। इसके चेयरमैन न्यायमूर्ति फजरत अली थे। इस आयोग के समक्ष बुन्देलखण्ड राज्य निर्माण का भी प्रस्ताव आया। आयोग के एक सदस्य के0एम0 पणिक्कर ने बुन्देलखण्ड के एकीकरण की आवश्यकता अनुभव की किन्तु उसे स्वतंत्र नया राज्य बनाने के बजाय नया आगरा राज्य बनाकर उसमें बुन्देलखण्ड के कुछ भाग (उत्तर प्रदेश से तत्कालीन झांसी डिवीजन, विन्ध्य प्रदेश से दतिया तथा मध्य भारत से चार जिले–भिण्ड, मुरैना, गिर्द (ग्वालियर है तथा शिवपुरी) को सम्मिलित करने का सुझाव दिया था। वर्तमान सागर सम्भाग के जिले सागर, पन्ना, दमोह, टीकमगढ़ तथा छतरपुर के बारे में उन्होंने कोई मत व्यक्त नहीं किया था। यह रिपोर्ट 30 सितम्बर 1955 को दी गई किन्तु श्री पणिक्कर के प्रस्ताव को आयोग ने अस्वीकार कर दिया तथा उनके मत को 'असहमति' (डिसैन्ट–नोट) के रूप में आयोग की रिपोर्ट का भाग बनाया गया। इस आयोग के पश्चात् हुये पुनर्गठन के फलस्वरूप मध्यप्रदेशीय बुन्देलखण्ड के विन्ध्यप्रदेश वाले जिलों को मध्य प्रदेश राज्य में ही सम्मिलित किया गया तथा देशी राज्यों को मध्य प्रदेश के दतिया, छतरपुर, टीकमगढ़, पन्ना, दमोह तथा सागर जिलों में समायोजित किया गया। इनमें दतिया ग्वालियर सम्भाग तथा शेष जिले सागर सम्भाग में आते हैं। प्रारम्भ में भाण्डेर को ग्वालियर जिले की तहसील बनाया गया था, बाद में उसे दतिया जिले में सम्मिलित कर दिया गया।

इधर कुछ चर्चा बावनी राज्य की भी करना प्रासंगिक है। बावनी राज्य के शासक नबाव मु0 मुश्ताक उल हसन खां ने उत्तरदायी शासन की स्थापना में आनाकानी की तथा इस हेतु गठित वावनी राज्य प्रजामण्डल के कार्यकर्ताओं का दमनात्मक कार्यवाही की। 25 सितम्बर 1947 को जब ग्राम हरचंदपुर में राष्ट्रीय झण्डा फहराने का कार्यक्रम बनाया गया तब रियासत की पुलिस ने देशभक्तों पर गोलियां चलाई वह स्थान जलियांवाले बाग की भांति एक चौखाटा था, कहीं से भागने का रास्ता न था। पुलिस की गोलियों से ग्यारह व्यक्ति शहीद तथा छब्बीस घायल हुये। इस घटना के पश्चात् मामला सरदार पटेल तक गया। 7 फरवरी 1948 को दीवान का पद समाप्त करके लोकप्रिय मंत्रिमंडल की घोषणा की गई।

पं. विश्वनाथ व्यास प्रधानमंत्री बनाये गये। मंत्रिमंडल के कुछ प्रस्तावों से नाराज होकर नबाव ने 4 अप्रेल 1948 को मंत्रिमण्डल भंग कर दिया। इस पर केन्द्र सरकार ने वावनी राज्य को संयुक्त राज्य विन्ध्यप्रदेश में सम्मिलित करने का आदेश दिया। 24 अप्रेल 1948 को वावनी राज्य विन्ध्यप्रदेश में मिला लिया गया। कार्यवाहक प्रशासक पं. विश्वनाथ व्यास को बनाया गया। अंत में 25जनवरी 1950 को इसे उत्तर प्रदेश में मिला दिया गया।

25 जनवरी 1950 को विन्ध्यप्रदेश से निकालकर जिन जिलों को उत्तरप्रदेश में मिलाया गया है उन्हें पूर्व में ब्रिटिश शासित चार राजस्व जिलों झांसी, जालौन, हमीरपुर तथा बांदा जिलों में समायोजित किया गया। इनमें समथर को झांसी जिले में, बबीना को जालौन जिले में तथा शेष को हमीरपुर एवं बांदा जिलों में सम्मिलित किया गया। इतिहासकार डा. काशीप्रसाद त्रिपाठी का यह कथन त्रुटिपूर्ण है कि उक्त सभी विलीनीकृत राज्यों को हमीरपुर जिले में विलीन कर दिया गया।[31]

इस प्रशासनिक पुनर्गठन के पश्चात् झांसी के ललितपुर परगना को जो कि 1891 ई0तक जिला था, पहली अप्रैल 1974 को पुनः जिला बना दिया गया था। 1995 में हमीरपुर जिले को दो भागों में विभक्त करके हमीरपुर तथा महोबा जिलों में बांट दिया गया। 11 फरवरी 1995 से महोबा जिला अस्तित्व में आया। इसी प्रकार बांदा जिले को 1997 में दो भागों में विभक्त करके बांदा तथ शाहूजीनगर नामक दो जिले बना दिये गये। 13 मई 1997 से शाहूजीनगर जिला बन गया। बाद में 8 सितम्बर 1998 को शाहूजीनगर का नाम बदलकर चित्रकूट कर दिया गया।

इन सभी सात जिलों की प्रशासनिक व्यवस्था के लिये झांसी मण्डल (कमिश्नरी) को भी 20 अक्टूबर 1997 से झांसी एवं चित्रकूट दो मण्डलों में बांट दिया गया। इनमें से झांसी मण्डल के अंतर्गत झांसी, ललितपुर तथा जालौन जिले रखे गये तथा चित्रकूट मण्डल में बांदा, शाहूजीनगर (बाद में चित्रकूट), हमीरपुर एवं महोबा जिले में सम्मिलित किये गये।

इस प्रकार बुन्देलखण्ड राजनीतिक दृष्टि से दो राज्यों में विभक्त है किन्तु वह भौगोलिक, सांस्कृतिक, भाषाई दृष्टि से एक इकाई है। दो राज्यों में विभक्त बुन्दलेखण्ड का एकीकरण करके 'बुन्देलखण्ड राज्य निर्माण' की मांग समय समय पर उठाई जाती रही है।

सर्वप्रथम 1941 में ओरछानरेश वीरसिंह देव (टीकमगढ़) ने इस मांग को लेकर प्रान्त निर्माण आन्दोलन खड़ा किया था। उन्होंने प्रान्त निर्माण के पूर्व इस क्षेत्र की सांस्कृतिक एकता के अभिलेखीकरण पर जोर दिया। इसके लिये पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, यशपाल जैन, कृष्णानन्द गुप्त, अंबिका प्रसाद दिव्य आदि साहित्यकारों को आमंत्रित करके कुण्डेश्वर को केन्द्र बनाया। बुन्देलखण्ड पर केन्द्रित 'मधुकर' तथा 'लोकवार्ता' नामक पत्रिकायें प्रारम्भ कीं। कालान्तर में इस मांग को उठाने के लिये जिन जनप्रतिनिधियों ने

अलग अलग मंच बनाये। इनमें विन्ध्यप्रदेश के पूर्वमंत्री महेन्द्रकुमार मानव (छतरपुर) पूर्वमंत्री नरेन्द्र सिंह (सागर) पद्मनाभ तैलंग (सागर), पूर्वमंत्री चतुर्भुज शर्मा (उरई) ओमप्रकाश रिछारिया तथा विधायक सुदामाप्रसाद गोस्वामी (झांसी) देवकरन यादव विध ायक (बांदा) बादशाह सिंह खरेला (हमीरपुर) पूर्व सांसद विश्वनाथ शर्मा(झांसी), गंगाचरन राजपूत (उरई) तथा लक्ष्मीनारायण नायक (निवाड़ी टीकमगढ़) के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। पूर्व केन्द्रीय मंत्री (तथा बाद में राजा बुन्देला) साध्वी उमाभारती ने भी बुन्देल राज्य निर्माण की माँग उठाई।

बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण के लिये सर्वाधिक प्रभावी जनजागरण अभियान 1989 सें 2001 तक स्व0 शंकर लाल मेहरोत्रा के नेतृत्व में बुन्देलखण्ड मुक्ति मोर्चा की ओर से चलाया गया । इसकी स्थापना नौगॉव (म0प्र0) में की गई किन्तु बाद में संगठन की सुविध ा के विचार से मोर्चा का मुख्यालय झाँसी लाया गया। उन्होने मध्यप्रदेश के पूर्व मंत्री विठ्ठल भाई पटेल (सागर) फिल्मी अभिनेता राजा बुन्देला (ललितपुर–बंबई) जैसे चर्चित तथा मुकुंद किशोर गोस्वामी (चरखारी) सुरेश मोदी (दमोह) हरीमोहन विश्वकर्मा (झांसी) आदि निष्ठावान कार्य कर्ताओं को जुटाया तथा जीवन के अंतिम क्षण तक बुन्देलखण्ड के लिए संघर्ष करते रहे। 1995 में इनके नेतृत्व में लोकसभा में 9 आन्दोलनकारियों ने सुरक्षाघेरा तोड़कर सदन में पर्चे फेके व दण्डित किये गये। बारह दिसंबर 1996 को हमीरपुर के सांसद गंगाचरन राजपूत ने लोक सभा में बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण की मांग उठाई तथा प्रान्त न बनने तक उत्तराखण्ड की भांति, बुन्देलखण्ड के विकास के लिये, 325 करोड़ रूपया स्पेशल ग्रान्ट देने का प्रस्ताव रक्खा। श्री मेहरोत्रा ने 1997 में छोटे राज्यों की मांग करने वाले 12 संगठनों का झांसी में महासम्मेलन बुलाया तथा इनका एक महासंघ 'छोटे राज्य निर्माण संघर्ष समिति' का गठन किया। पूर्व केन्द्रीय मंत्री अजित सिंह संयोजक, पूर्व राज्यपाल मधुकर दिघे अध्यक्ष व शंकरलाल महरोत्रा महामंत्री बनाये गये। छत्तीसगढ़, उत्तराखण्ड, झारखण्ड, गोरखालैण्ड, बोडोलैण्ड, विदर्भ, तैलंगाना आदि इसके प्रमुख घटक संगठन थे। इनमें से तीन–छत्तीसगढ़, उत्तरांचल तथा झारखण्ड अब राज्य बन गये हैं। वह 1998 में आन्दोलन का नेतृत्व करने के एवज में राष्ट्रीय सुरक्षा कानूनके अन्तर्गत छह माह कारागार में रहे। उनका निधन 22नवम्बर 2001 को हुआ। उनके निधन के पश्चात् विठ्ठल भाई पटेल (सागर) को बुन्देलखण्ड मुक्ति मोर्चा का अध्यक्ष बनाया गया है। संप्रति लगभग एक दर्जन संगठन इस दिशा में सचेष्ट किन्तु बिखरे हुये हैं।

यहां राज्य निर्माण की संवैधानिक स्थिति पर भी विचार करना प्रासंगिक है। राज्य विलीनीकरण हेतु सहमति पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले एक राजवंश के अनुसार उन्होंने अपने राज्य का विलीनीकरण "एक राज्य के निर्माण के लिये किया था– जिसमें एक विध ायिका एक न्यायपालिका तथा एक कार्यपालिका हो।' किन्तु इसे दो राज्यों में विभक्त करके

भारत सरकार ने इस संधि का उल्लंघन किया। अतः इस आधार पर बुन्देलखण्ड के एकीकरण हेतु न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है।

प्रथम राज्य पुर्नगठन आयोग ने नये राज्य निर्माण हेतु चार मानक निर्धारित किये थे – (1) भौगोलिक एकता (2) भाषा एवं सांस्कृतिक एकता (3) प्रशासनिक सुविध ा तथा (4) आत्मनिर्भरता। राज्य निर्माण हेतु आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में यह भी विचारणीय है कि एकीकृत बुन्देलखण्ड क्या उक्त चार मानक पूरे करता है ?

बुन्देलखण्ड के इतिहास मे चर्चा के उर्पयुक्त प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उत्तरप्रदेश शासन तथा मध्यप्रदेश शासन दोनों ने ही 'बुन्देलखण्ड विकास प्राधि ाकरण' बनाये हैं। केन्द्र सरकार के भारतीय चारागाह शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित 'बुन्देलखण्ड की एटलस' में उक्त जिलों के अतिरिक्त ग्वालियर जिले की भाण्डेर (जो अब दतिया जिले में है) तथा भिण्ड जिले की लहार तहसील को सम्मिलित करके "एक समवेत भौगोलिक संरचना" का स्वरूप प्रस्तुत किया है। बुन्देलखण्ड मुक्ति मोर्चा ने इस संरचना के पूरक एवं सीमावर्ती दस अन्य जनपदों ग्वालियर, भिण्ड, मुरैना, शिवपुरी, गुना, विदिशा, रायसेन, नरसिंहपुर, जबलपुर तथा सतना को भाषाई एकता के आधार पर प्रस्तावित 'बुन्देलखण्ड राज्य' का मानचित्र तैयार किया है। इस प्रकार बुन्देलखण्ड तथ्यात्मक दृष्टि से एक भौगोलिक इकाई है।

भाषाई दृष्टि से उक्त सभी जिलों में 'बुन्देली' भाषा बोली जाती है। उसके अनेक क्षेत्रीय रूप, रूप बोलियाँ, व्याकरण तथा लोकभाषा साहित्य की विगत आठ सौ वर्षों की अविराम परम्परा है। इसमें जगनिक के आल्हखण्ड (12वीं सदी) से ईसुरी तथा 'प्रकाश' (वर्तमान तक के अनेक कवियों) तक की सारस्वत–साधना रही है।

सांस्कृतिक दृष्टि से रीति–रिवाज, परम्परायें, लोककलायें, लोकसंगीत, लोकनृत्य, लोकनाटय, लोक–देवता, लोकपर्व तथा लोक–सभ्यता आदि की समानधर्मी विशेषतायें हैं। बुन्देली संस्कृति पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की गयी। जिनमें यमुना से नर्मदा तक के इस विन्ध्य प्रांगण को 'एक सांस्कृतिक अंचल' के रूप में निरूपित किया गया है।

सम्पूर्ण क्षेत्र मे परिवहन एवं संचार के पर्याप्त साधन हैं। भले ही रेल पथ का अभाव हो किन्तु सड़क मार्ग पूरे अंचल को जोड़ता है सिंगरौली रेल परियोजना के माध्यम से बड़े भू–भाग को रेलपथ से भी जोड़ा जा रहा है। यहाँ वायुसेना तथा सैन्य छावनियाँ है। नियंत्रण की दृष्टि से यह एक सुविधाजनक प्रशासनिक इकाई है।

आर्थिक आत्मनिर्भरता की दृष्टि से बुन्देलखण्ड पर्याप्त सक्षम है। बुन्देलखण्ड में पर्याप्त जल–संसाधन, कृषि–योग्य उर्वर–भूमि, विश्व के लगभग सभी खनिज, वनसम्पदा, वनौषधियाँ एवं पर्यटन–स्थल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। लाखों एकड़ बीहड़ भूमि को कृषि

योग्य बनाया जा सकता है। कुछ वर्षों पूर्व भारतीय चारागाह संस्थान द्वारा सम्पन्न कराये गये एक सर्वेक्षण में इस तथ्य की पुष्टि हुई है कि बुन्देलखण्ड में जल संसाधन आवश्यकता से दुगुनी मात्रा में उपलब्ध है। यह जलराशि प्रबन्धन के अभाव मे व्यर्थ जाती है। इसका श्रेष्ठतम उपयोग चन्देलकालीन जल प्रबन्धन शैली द्वारा सम्भव है। इसी शैली के उपयोग से महोबा में पान तथा बरवा सागर में शाक भाजी का उत्पादन, उन्हें अपने अपने क्षेत्र में अग्रणी बनाये हैं। पन्ना की हीरा खानें, भेड़ाघाट का संगमरमर, सोना चाँदी, मैग्जीन, ताँबा, लोहा, अभ्रक अनेक प्रकार के पत्थर (ग्रेनाइट, गौरा, कलई, चूना, सजर, मौरम) की अक्षय स्त्रोत यहाँ हैं। तेंदू पत्ता तथा सागौन के भारी जंगल हैं। तेंदू पत्ते की रायल्टी से शासन को लगभग 200 करोड़ रूपये का राजस्व प्राप्त होता है। पन्ना में हीरा क्षेत्र की लगभग एक वर्ग किमी0 पट्टी की रायलटी 700 करोड़ रूपये प्रतिवर्ष मिलती है। हीरा क्षेत्र लगभग 40किमी लम्बा तथा 12 कि.मी. चौड़ा है।

आज देश में पर्यटन प्रमुख उद्योग के रूप में विकसित हो रहा है। बुन्देलखण्ड में खजुराहो, देवगढ़, अजयगढ़, कालिंजर, चंदेरी, चित्रकूट, ओरछा, सेंवढ़ा कालपी, अमरकंटक, सोनगिरि, पावागिरि, सूर्य मन्दिर (उन्नाव) राष्ट्रीय प्राणी उद्यान,शैलचित्रयुक्त गुफायें, पचनदा तथा बीहड़ों में अनेक सुरम्य स्थल हैं जिनका पर्यटकीय दृष्टि से विकास न केवल इस राज्य की आत्म निर्भरता को अपितु देश की अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण दिशा दे सकता है।

केवल उत्तर प्रदेशीय संभाग से व्यापार कर नामक एक ही विभाग से 55 करोड़ रूपये से अधिक का राजस्व शासन को प्राप्त होता है।

महुवा बेर खाकर जीवन–यापन के अभ्यस्त श्रमिक सहज तथा बहुलाँश में उपलब्ध है। इस क्षेत्र के खनिजों, वन सम्पदा आदि का दोहन करके उसके कच्चे माल से यहाँ उत्पादन हो, तो इन श्रमिकों को रोजगार के बेहतर अवसर उपलब्ध हो सकते हैं। अभी तक इस क्षेत्र का कच्चा माल अनेक प्रान्तों तथा महानगरों के महानगरों की औद्योगिक समृद्धि का साधन रहा है। यह सभी संसाधन इस क्षेत्र को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बना सकते हैं। इस प्रकार बुन्देलखण्ड राज्य निर्माण हेतु निर्धारित चार मानकों पर खरा उतरता है।

राज्य निर्माण, दोनों राज्यों की विधानसभाओं द्वारा इस निमित्त पारित संकल्प के बाद संसद द्वारा पारित प्रस्ताव द्वारा ही संभव है।मध्यप्रदेश विधानसभा द्वारा बुन्देलखण्ड राज्य निर्माण हेतु संकल्प पारित किया जा चुका है। शेष औपचारिकताओं को पूरा किये जाने की प्रतीक्षा में यह क्षेत्र नया इतिहास रचने के लिए नये क्षितिज की ओर आशाभरी दृष्टि से देख रहा है।

सन्दर्भ

1. डा. राजाराम जैन -- तिलोयपण्णत्ती में वर्णित विजयार्ध (दी ग्लोरी दैट बाज बुन्देलखण्ड, भाग–1 पृष्ठ 237)
2. रावण एण्ड हिज ट्राइव– दी इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली खण्ड–6 पृष्ठ 544–48
3. डा. वासुदेवशरण अग्रवाल – मार्कण्डेयपुराण–एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ 112
4. डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त – बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास पृष्ठ 26
5. डा0 राजकुमार शर्मा – मध्य प्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ पृष्ठ – 9
6. डा0 भरतसिंह उपाध्याय – बुद्धकालीन भारतीय भूगोल पृष्ठ 427
7. श्री हरगोविन्द गुप्त – बुन्देलखण्ड की जीवनरेखा बेत्रवती (मध्यदेश दीपावली विशेषांक 1970,पृष्ठ112)
8. डा. भगवानदास गुप्त –प्राचीन बुन्देलखण्ड : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण मध्यदेश दीपावली विशेषांक 1970,पृष्ठ 12
9. डा0 राजकुमार शर्मा – मध्य प्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ पृष्ठ – 12,13
10. ओ.पी. लाल – आर्कियोलाजी आफ एरिच
11. मोहनलाल गुप्त – एरिच का प्राचीन इतिहास और सिक्के 'चातक' पृष्ठ 9
12. डा0 राजकुमार शर्मा – मध्य प्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ पृष्ठ – 24, 25
13. डा. काशीप्रसाद जायसवाल – अधंकारयुगीन भारत पृष्ठ 125
14. डा. रमेशचन्द्र श्रीवास्तव – बुन्देलखण्डः साहित्यिक ऐतिहासिक सांस्कृतिक वैभव पृष्ठ 156
15. डा. के.एल.अग्रवाल – कालंजर थ्रू एजिज दी ग्लोरी दैट वाज बुन्देलखण्ड पृष्ठ 400
16. डा0 राजकुमार शर्मा – मध्य प्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ पृष्ठ – 43
17. डा. नर्मदा प्रसाद गुप्तः – वी.वी. मिराशी (मामुलियां–संपादक)
18. डा.भगवानदास गुप्त – प्राचीन बुन्देलखण्ड एक एतिहासिक सर्वेक्षण मध्यदेश दीपावली विशेषांक 1970, पृष्ठ12
19. सारस्वत (सरस्वती विद्या मन्दिर इण्टर कालेज पत्रिका) का उरई विशेषांक, माहिल दुर्ग तथा अयोध्या प्रसाद गुप्त, 'कुमुद' – तालाब, पृष्ठ 46
20. डा0 अयोध्याप्रसाद पाण्डे – चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास पृष्ठ,98
21. डा. भगवानदास गुप्त – महाराजा छत्रसाल बुन्देला पृष्ठ 18
22. डा. महेन्द्र प्रताप सिंह – छत्रप्रकाश
23. जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल (1902) पृष्ठ 108
    डा. भगवानदासगुप्त – महाराज छत्रसाल बुन्देला पृष्ठ 20
24. जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल (1902) पृष्ठ 108
    डा. भगवानदासगुप्त – महाराज छत्रसाल बुन्देला पृष्ठ 20
25. श्यामलाल – तवारीखे बुन्देलखण्ड पृष्ठ 2 एवं 61–62
26. डा.भगवानदास – महाराज छत्रसाल बुन्देला पृष्ठ 125
27. (अयोध्याप्रसाद कुमुद) – सैयद लतीफ से संबंधित लोकगीत–संपादक पृष्ठ 123
28. डा. काशीप्रसाद त्रिपाठी – बुन्देलखण्ड का वृहद इतिहास पृष्ठ 122
29. डा. काशीप्रसाद त्रिपाठी – बुन्देलखण्ड का वृहद इतिहास पृष्ठ 375
30. डी. एल. ड्रेक ब्रोक मैन – डिस्ट्रिक्ट गजेटियर जालौन (1921) पृष्ठ 121, संपादक
31. डा. काशीप्रसाद त्रिपाठी – बुन्देलखण्ड का वृहद इतिहास पृष्ठ 404

सभा की खोज रिपोर्टों में बुन्देलखण्ड संबंधी दो भूलें

नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने बीसवी शदी के प्रारंभिक वर्षो में देश में बिखरी पाण्डुलिपियों की खोज करके उनका विवरण शोध–रिपोर्टों के रूप में कई खण्डों में प्रकाशित किया था। यह रिपोर्टें साहित्य जगत में सभा की खोज रिपोर्टों के नाम से चर्चित हुयी थीं। इन रिपोर्टों में पाण्डुलिपियों के अंशों के साथ ही, उनमें प्राप्त अंतर्साक्ष्यों के आध ार पर रचनाकारों का परिचय भी दिया गया है। इससे हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन तथा विशाल साहित्य–संपदा एवं साहित्यकारों को समझने का काम आसान हो गया है। इससे हिन्दी का बड़ा उपकार हुआ।

अत्यन्त प्रमाणिक मानी जाने वाली इन शोध रिपोर्टों में भी बुन्देलखण्ड के इतिहास से संबधित दो भयंकर भूलें हो गयी हैं। छोटे–छोटे स्थानों के बारे में, वहां जाकर स्थानीय जानकारी किये बिना, जब भी इस तरह शोधकार्य होंगे – इस प्रकार की भूलें स्वाभाविक रूप से होंगी। यह भूलें भी इसी प्रकार की गलती का परिणाम हैं। किन्तु परवर्ती शोधकर्ताओं का यह दायित्व है कि जब भी इस तरह की भूलें सामने आयें तो उसकी जानकारी सभा तथा पाठकों को दी जाय, ताकि भूल सुधार हो सके। यह आलेख इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

बुन्देलखण्ड संबंधी उक्त दो भूलें जालौन जिले में जन्मे दो प्राचीन कवियों फतेहसिंह कायस्थ तथा रतिभान को लेकर सामने आईं।

फतेहसिंह कायस्थ ने मुहर्रम गुर्रा, तथा दस्तूर मालिका नामक दो फारसी काव्य ग्रंथों का हिन्दी काव्यानुवाद किया था। इसमें उनके प्रेरक गुरू सूफी संत खुर्रम शाह थे। स्वीकृत तौर पर फतेहसिंह का जन्म स्थान कोंच है। संत खुर्रमशाह तत्कालीन राष्ट्रीय ख्याति के सूफी संत थे। उनकी प्रशंसा में तथा उनसे प्रभावित होकर मुगल शासकों ने चौदह सौ बीघा खेती की 'मुआफी' उन्हें दी थी। उनका तकिया कोंच में था, जो अभी भी विद्यमान है। खुर्रमशाह स्वयं फारसी के विद्वान थे। उनकी शिष्य परंपरा में भी फारसी के विद्वान होते आये हैं। लगभग चार सौ वर्षों की इस परंपरा में अंतिम कवि शाह मुजफ्फर अली 'कौकव' हुये। उनके काव्य संग्रह 'दयारे ककहशां' को फखरूद्दीन अली ट्रस्ट द्वारा पुरस्कृत किया गया था। इसी शाह परंपरा के आदि पुरूष खुर्रमशाह के शिष्य फतेहसिंह कायस्थ थे। उक्त खुर्रम शाह तथा उनकी परंपरा की जानकारी के अभाव में सभा के अन्वेषक से भारी भूल हो गई। उसने उक्त फतेहसिंह को दिल्ली के राजकुमार 'खुर्रमशाह' का आश्रित लिख दिया। (देखें – खोज रिपोर्ट सन् 1905 ई0 संपादक श्यामसुन्दरदास, प्रकाशन सन् 1908 ई0 पृष्ठ 11)। उक्त रिपोर्ट में अंकित अंग्रेजी विवरण का अनूदित पाठ निम्नप्रकार दिया गया है –

"फतेहसिंह – पन्नानरेश महाराज सभासिंह (1735–1752 ई0) के संरक्षण में फले

फूले। यह महाराज हृदयशाह (1731–1738) के पुत्र तथा छत्रसाल (1706–1731) के पौत्र थे। उन्होंने दो पुस्तकें दस्तूर मालिका तथा मुहर्रम लिखीं। परवर्ती की रचना 1756 ई० में हुई। मुहर्रम में फतेहसिंह ने शाह खुर्रम पुत्र जहांदर शाह का उल्लेख किया तथा लिखा कि यह पुस्तक उनकी प्रेरणा से लिखी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अपने संरक्षक सभासिंह की मृत्यु के बाद फतेहसिंह ने संभवतः बुन्देलखण्ड छोड़ दिया तथा दिल्ली चले गये। जहां उन्हें जहांदर शाह के पुत्र (खुर्रम शाह) ने आश्रय दिया।''

सभा के अन्वेषक का यह मत भ्रामक ही नहीं भ्रष्ट भी है। पाण्डुलिपि में कहीं जहांदर शाह का उल्लेख नहीं है। उसमें केवल खुर्रमशाह का उल्लेख दो तीन स्थानों पर इस रूप में आया है। यथा –

''खुर्रमशाह प्रताप तें, बरनी भाषा भाष।
कोंचन गृहस्थान में, पारसी मत दै साख।''

(मुहर्रम – 6)

''प्रथम हती यह पारसी, मति सो दोनी राख।
खुर्रम शाह प्रताप तें, बरनी भाषा भाष।

(मुहर्रम – 8)

इसका एक पाठान्तर इस प्रकार भी मिलता है–

प्रथम हती यह फारसी, सोई मत दे राष।
षुर्रूम साहि प्रताप सों, बसन्त भाषा भाष।

(8)

उक्त काव्य ग्रंथ में खुर्रमशाह के अलावा 'उनके पिता' या ''जहांदरशाह' का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्वेषक को कोंच के उक्त सूफी संत खुर्रमशाह की कोई ऐसी जानकारी नहीं थी कि फतेहसिंह ने संत खुर्रमशाह से फारसी सीखी थी। अनुमान है कि उसने उस कालखण्ड के राजवंशों में खुर्रमशाह की खोज की होगी तथा दिल्ली के सम्राट जहांदरशाह के पुत्र खुर्रमशाह का सूत्र मिलते ही अन्वेषक ने कोंच के इन फतेहसिंह को दिल्ली के उक्त खुर्रमशाह का आश्रित घोषित कर दिया।

उक्त शोध रिपोर्ट पढ़ने के पश्चात् मैनें कोंच जाकर खुर्रमशाह की तकिया के तत्कालीन सज्जीदानशीन शाह मुजफ्फर अली ''कौकव'' से भेंट की। वे उस समय जीवित थे। उन्होंने मेरे अनुमान को सत्य प्रमाणित किया तथा बताया कि फतेहसिंह कायस्थ खुर्रमशाह साहब के शागिर्द थे। उनके पुस्तकालय में फतेहसिंह की पाण्डुलिपियां भी थीं। श्री 'कौकव' ने मुझे बताया कि उनके पास सुरक्षित विवरणों में खुर्रमशाह द्वारा फतेहसिंह को पारसी पढ़ाने का उल्लेख है। श्री शाह ने मुझे अपने निजी संग्रहालय से फतेहसिंह कायस्थ के मुहर्रम गुर्रा (हिन्दी नाम – मतचंद्रिका) की पाण्डुलिपि की छाया प्रति भी उपलब्ध कराई थी।

इस प्रकार फतेहसिंह के संबंध में खोज रिपोर्ट को इस प्रकार संशोधित करके पढ़ा जाना चाहिये कि मुहर्रम गुर्रा तथा दस्तूर मलिका के काव्यानुवादक फतेहसिंह का जन्म कोंच मे हुआ था। वे पन्नानरेश सभासिंह के आश्रित थे। श्री फतेह सिंह खुर्रमशाह नामक दिल्ली सम्राट के आश्रित नहीं थे।श्री फतेह सिंह खुर्रमशाह नामक दिल्ली सम्राट के आश्रित नहीं थे। अपितु उन्होंने कोंच निवासी सूफी संत खुर्रमशाह से फारसी सीखकर उक्त 'मुहर्रम गुर्रा' का भाषा–भाष्य 'मतचंद्रिका' नाम से किया था। इस साक्ष्य में सन्त खुर्रमशाह के शिष्य फतेहसिंह द्वारा रचित "मतचंद्रिका" की पाण्डुलिपि की छायाप्रति (जो मुझे स्व0 मुजफ्फर अली "कौकव" द्वारा उपलब्ध कराई गयी थी) का सम्बन्धित अंश निम्नवत् है। इसमें प्राचीन पाण्डुलिपियों की भांति खकोष, खुर्रमशाह को "षुर्रम" लिखा गया है।

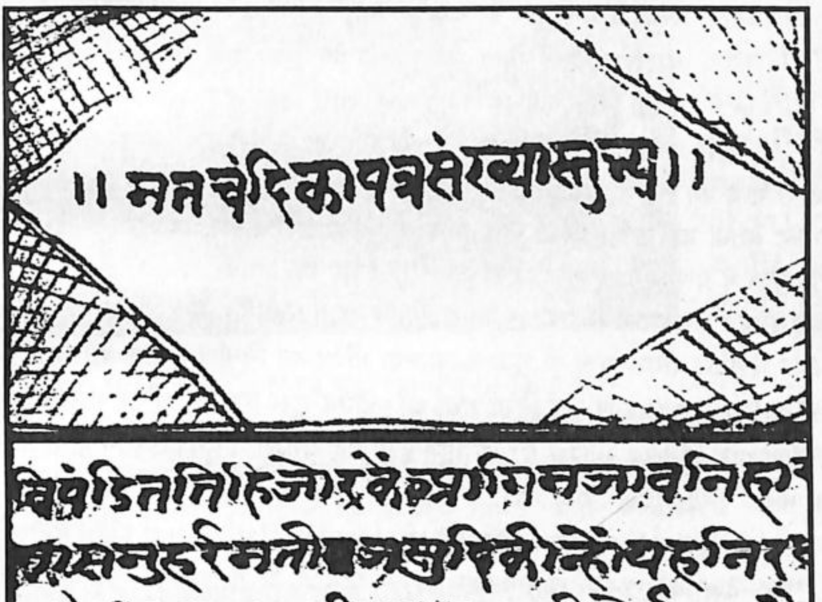

इसी प्रकार दूसरी भूल कवि रतिभान को लेकर हुई। रतिभान ने जैमिनीपुराण का हिन्दी काव्यानुवाद किया था। वह जालौन जनपद (उत्तर प्रदेश) के इटौरा (तहसील कालपी) के संत रोपन गुरू के शिष्य थे। किन्तु खोज रिपोर्ट के अन्वेषक ने उन्हें इटौरा (मध्यप्रदेश) का निवासी लिखकर भ्रम की स्थिति पैदा कर दी। (देखें – खोज रिपोर्ट 1929 – 31 के क्रमांक 295 (ए) तथा (बी) पृष्ठ 552–554 की टिप्पणी– संस्करण संवत् 2011)

ऐसा प्रतीत होता है कि सभा के अन्वेषक ने जैमिनी पुराण पद्यानुवाद की रतिभान रचित पाण्डुलिपि के निम्न काव्यांश को अपने निष्कर्ष का आधार बनाया–

"कालप क्षेत्र कालपी वासा। सिद्धि साध पंडित सुखवासा।
कलिगंगा बेतवा उत बहें। न्हाये जहां पाप नहिं रहै।
मध्य सुदेश इटौरा गाँउ। जंह सतगुरू रोपन तिहि नाँउ।
प्रगट प्रनाम पंथ है जाकौ। निर्गुण मंत्र जपै जग जाकौ।
परशुराम गुरू पिता हमार। तिनके पुत्र भये पुनि चार।
अपनी बात कहौ परवान। सब कोउ कहै नाँउ रतिभान।"

इस काव्यांश में उल्लिखित संपूर्ण विवरण उत्तरप्रदेश के जालौन जिले स्थित इटौरा गांव का है। यह स्थान कालपी के पास है जो कालप्प ऋषि का क्षेत्र है। इटौरा के निकट बेतवा वहती है। बेतवा को 'कलियुग की गंगा' कहकर पापनाशिनी कहा गया है। इस गांव में प्रणामी पंथ के प्रवर्तक रोपन गुरू हुये थे। इनकी ख्याति से प्रभावित होकर स्वयं सम्राट अकबर ने दिल्ली से इटौरा आकर श्रद्धा निवेदित की थी तथा आगरा से लाल पत्थर भेजकर रोपण गुरू के भव्य कलात्मक मंदिर का निर्माण कराया था तथा गांव का नाम इटौरा –अकबरपुर कर दिया गया था। रोपन गुरू का यह मन्दिर भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित स्मारक है। रतिभान इसी वंश परंपरा में हुये। उन्होंने ही जैमिनीपुराण का भाषा–काव्यानुवाद किया था।

मेरा अनुमान है कि अन्वेषक ने उक्त काव्यांश में पंक्ति 'मध्य सुदेश इटौरा गाँउ।' में 'मध्य–देश' को मध्यप्रदेश समझकर अपनी टिप्पणी में रतिभान को इटौरा (मध्यप्रदेश) का निवासी अंकित कर दिया।

इस गलती को संशोधित करके कवि रतिभान को इटौरा (मध्यप्रदेश) के स्थान पर इटौरा (जिला– जालौन, उत्तर प्रदेश) का निवासी मानकर पढ़ा जाना चाहिये।

सभा से अपेक्षा है कि वह ऐसी त्रुटियों के प्रकाश में आने पर सभा की खोज रिपोर्टों का संशोधन–पत्रक जारी करे ताकि पाठकों को भ्रम न रह सके।

•

कालप्रियनाथ सूर्य-मंदिर :'सूर्यघाट' से 'सुअरघटा' तक

पुराणकालीन कालप्रियनाथ सूर्यमन्दिर का यमुना तटस्थित 'सूर्यघाट' अब 'सुअरघटा' बन गया है। उत्तर प्रदेश के जालौन जनपद में यमुना नदी के तट पर स्थित कालपी नामक प्राचीन नगर है। वर्तमान में यह तहसील मुख्यालय भी है। इसी कालपी तहसील गुलौली ग्राम के निकट केवट बहुल आबादी के गाँव 'मदरालालपुर' से यमुना नदी के मार्ग में 'सुअरघटा' नामक यह स्थान विश्व–विख्यात सूर्य मन्दिर के अतीत की करुण कहानी कह रहा है। यह वही सूर्य मन्दिर है जहाँ सम्राट विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर ने भगवान सूर्य से वरदान प्राप्त करके खगोल विद्वान एवं ज्योतिष के क्षेत्र में नये सिद्धान्त प्रतिपादित करके अनेक ज्योतिष ग्रंथों का प्रणयन किया था।

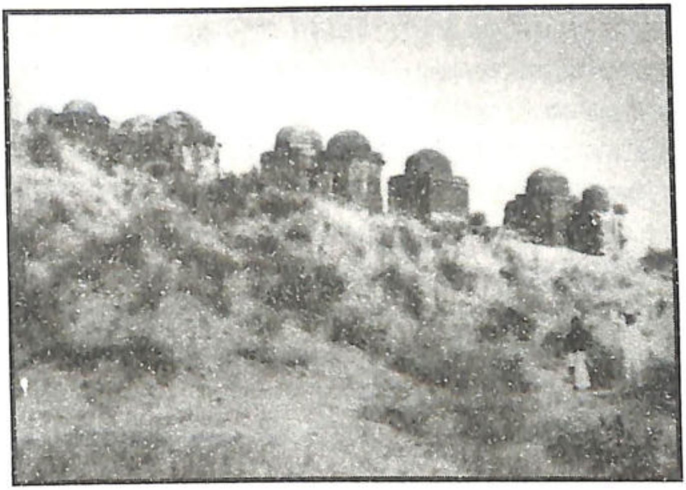

इसी 'कालपी' नामक नगर का प्राचीन नाम 'प्रभावती' तथा 'कालप्रिय' बताया जाता है। राजशेखर ने राजतरंगिणी में कालप्रिय को गाधिपुर (आधुनिक कन्नौज) के दक्षिण में स्थित बताया है। जनश्रुतियों के अनुसार यमुना किनारे कालप्पदेव टीला आज भी विद्यमान है। यह ग्रह व्यास टीला के पास स्थित है। इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार इसे कन्नौज के राजा वासुदेव ने बसाया था। 'तपोभूमि' (ले.–पं. रामगोपाल मिश्र) में वासुदेव का काल ईसा की चौथी शताब्दी माना गया है। कालपी कन्नौज राज्य का एक सम्पन्न नगर मुस्लिम शासन काल में कालपी सरकार का मुख्यालय एवं भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण पृष्ठ रहा है। बावन उजाड मुहल्लों को अपनी गोद में समेटे कालपी के खण्डहरों तथा टीलों में इतिहास के अनेक विलुप्त पृष्ठ छिपे पड़े हैं।

आधुनिक शोधों से स्थापित हो चुका है कि कालपी में कभी 'कालप्रियनाथ' नाम का एक विशाल पुराणकालीन सूर्य–मंदिर था। इसमें एक प्रेक्षागार भी था। यहां संस्कृत के नाटककार भवभूति के तीन नाटकों–महावीरचरतिम्, मालती माधव तथा उत्तर रामचरितम्

का मंचन हुआ था। उक्त नाटकों की प्रस्तावनाओं में इस तथ्य का उल्लेख स्वयं भवभूति ने किया है। माधव व्यंकटेश लेले नें माधवी–माधव सार अपि विचार' में, तथा शारदा रंजन राय न्रे स्वसंपादित उत्तर रामचरित की भूमिका में कालपी को ही कालप्रिय का आधुनिक रूप माना है।. संस्कृत का 'यात्रा' शब्द मेले के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जगन्नाथपुरी के प्रसिद्ध मेले को देश भर में 'रथयात्रा' कहा जाता है। इसी प्रकार भवभूति नाटकों में कालप्रियनाथ की यात्रा का अर्थ कालपी में स्थित सूर्य–मंदिर कालप्रियनाथ के मेले से है। डॉ. वी.वी. मिराशी ने अपने ग्रंथ 'भवभूति' तथा 'भवभूति के नाटकों में कालप्रियनाथ' शीर्षक लेख में सिद्ध किया है कि कलाप्रिय (आधुनिक कालपी) में एक विशाल सूर्य मंदिर था, जहां यात्रा के निमित्त दूर–दूर के प्रदेशों के लोग आते–जाते थे और उसी यात्रा के प्रसंग में यहां भवभूति नाटक प्रथमरंगमंच पर अभिनीत हुए। कालपी कन्नौज से दक्षिण में मात्र पचहत्तर मील की दूरी पर है। कालपी में भवभूति नाटकों का मंचन होने पर उनकी कीर्ति कन्नौज के सम्राट यशोवर्मा तक पहुंची और उन्होंने उन्हें ससम्मान बुलाकर अपनी राजसभा में रख लिया। 'मामुलिया' में प्रकाशित एक अन्य लेख 'कालपी में प्राचीन रंगशाला की ऐतिहासिक खोज' में डॉ0 मिराशी ने बताया है कि राष्ट्रकूट के राजा इंद्र तृतीय ने 1915 ई. के आस–पास, जब दक्षिण से उत्तर भारत आकर कन्नौज पर आक्रमण किया तो यमुना पार करते समय उसकी सेना यमुना के तट पर स्थित सूर्य–मंदिर के प्रांगण में ठहरी थी। यह प्रांगण इतना विस्तृत था कि हाथी, घोड़ों तथा पदाति सैनिकों सहित उसकी संपूर्ण वाहिनी इसमें समाहित हो गयी थी। इस विशाल मंदिर के प्रांगण में दीवारों को हाथियों ने अपने दांतों से क्षतिग्रस्त कर दिया था। चूंकि कालपी मान्यखेट (आधुनिक मालखंड, आंध्रप्रदेश) से कन्नौज के मार्ग में यमुना तट पर स्थित है तथा कन्नौज के निकट है। अतः इस आधार पर कालपी में सूर्य–मंदिर के यमुना तट पर स्थित होने की पुष्टि होती है। वाराहपुराण के उद्धरणों के साक्ष्य पर उन्होंने इसे यमुना के दक्षिण में माना है। श्रीपरिपूर्णानन्द वर्मा ने अपने लेख 'कालप्रियनाथ की नगरी कालपी' में इससे भी आगे लिखा है कि राष्ट्रकूट नरेश इंद्र तृतीय ने हाथियों ने कालप्रियनाथ का मंदिर चौरस कर दिया था। इस प्रकार यह मंदिर उसी समय ध्वस्त हो गया था। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द चतुर्थ के चंबा में प्राप्त शिलालेखों में वर्णित है कि श्रीवर्मा का उपर्युक्त कथन आंशिक रुप से सत्य है राष्ट्रकूट नरेश इंद्र तृतीय के हाथियों द्वारा मंदिर ध्वस्त होने का उल्लेख तो ठीक है किन्तु उनके द्वारा इंगित स्त्रोत चंबा शिलालेख त्रुटिपूर्ण है। डा. वी.वी. मिराशी के अनुसार उक्त उल्लेख गोविन्द चतुर्थ के खम्भात ताम्रपट्ट में है। उनका संकेत अधोलिखित श्लोक की ओर है –

यन्माद्यत् द्विपदन्त घात विषमं कालप्रिय प्राङ.णं
तीर्णा यन्तुरगौरगाध यमुना सिन्धु प्रतिस्पर्धिनी।
येनेदं हि महोदयानिनगरं निर्मूलन्मुक्ति तं
नाम्नाऽद्यापि जनैः कुशस्थल मिति ख्यातिं परां नीयते।।

अर्थात्– (भगवान) कालप्रिय (के मन्दिर) का प्रांगण उसके (अर्थात् इन्द्रतृतीय के) मदस्रावी हाथियों के दांतों के घात ऊबड़–खाबड़ हो गया था। उसके घोड़ों ने विस्तार में समुद्र से स्पर्धा करने वाली अगाध यमुना पार की। उसने शत्रु के नगर का निर्मूल उन्मूलन कर दिया जिसके फलस्वरुप अब भी वह जनसाधारण में कुशस्थल (घास से भरा स्थान) के नाम से परमप्रसिद्धि को प्राप्त होता है।" (देखें – प्राच्य निबन्धावली खण्ड–4 डा.वी.वी मिराशी, पृष्ठ 77–78)

इतिहासकार इनायतुल्ला की 'आइने कालपी' के अनुसार महमूद खां लोदी के समय में कालपी पर लहरिया राजा उर्फ श्रीचंद का शासन था। कालपी पर अधिकार करने के उपरान्त महमूद खां लोदी ने श्रीचंद्र का वध कर दिया था उसकी सात रानियां कालपी के सूर्य–मंदिर में जाकर सती हो गयीं थीं। जिनकी स्मृति में यहां सात मठियों को निर्माण हुआ। मेरे विचार से सतीत्व रक्षा के निमित्त किये गये इस प्राणोत्सर्ग को 'जौहर' कहना अधिक प्रासंगिक है। जिला गजेटियर के अनुसार श्रीचंद्र का सिर कालपी नगर के श्री दरवाजे के नीचे गाड़ दिया गया था। इस घटना का उल्लेख इस रूप में समीचीन है कि कालपी में सूर्य मंदिर का अस्तित्व मुसलमानों कें आधिपत्य जमाने तक रहा है। भले ही इसका अधिकांश भाग इंद्र तृतीय की वाहिनी ने नष्ट कर दिया हो।

इस मंदिर मे निर्माण काल का ठीक–ठीक पता नहीं चलता है। पुराणों के अनुसार श्री कृष्ण के पुत्र साम्ब ने कुष्ठ–मुक्ति के लिए जो तीन सूर्य मन्दिर बनवाये थे, उनमें से एक कालप्रियनाथ का भी था। पं. जानकीनाथ शर्मा ने अपने लेख 'भारत के अत्यंत प्रसिद्ध तीन प्राचीन सूर्य मंदिर' (कल्याण–सूर्य अंक) में इस बिन्दु पर विस्तार से विचार करते हुये इसे आधुनिक कालपी में, साम्ब द्वारा निर्मित, माना है। ज्योतिषचार्य वराहमिहिर जो कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में थे, ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ बृहज्जातक में उल्लेख किया है कि सूर्य से वर प्राप्त करने के उपरान्त ही वे ज्योतिष ग्रन्थों की रचना में प्रवृत्त हुए। ज्योतिषाचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष' तथा 'भद्रबाहु संहिता' की प्रस्तावनाओं में वराहमिहिर द्वारा ,कालपी में सूर्य से वरदान पाकर ज्योतिष ग्रन्थों की रचना करने की पुष्टि की है। इन विद्वानों के अनुसार मन्दिर पुराणकालीन है परन्तु इसका भव्य एवं कलात्मक निर्माण कन्नौज के शासकों द्वारा ही करवाया गया था। यह काल चौथी या पांचवी शताब्दी का होना चाहिए क्योंकि यशोवर्मा का काल सातवीं शताब्दी का ठहरता है। भवभूति के नाटकों के मंचन के पूर्व ही इस मन्दिर पर सूर्य–यात्रा (मेला) की परम्परा चली आ रही थी। पुनश्च, कन्नौज राज्य हर्षवर्धन के समय में ही अपने कला वैभव के चरमात्कर्ष पर था।

ह्वेनसांग ने अपने यात्रा–विवरण में कन्नौज में सूर्य मन्दिर होने का उल्लेख किया है। किन्तु यह मन्दिर कहां था, इसके बारे में कुछ नहीं बताया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वर्ण जयन्ती समारोह पर प्रकाशित 'कन्नौज : एक झलक' नामक पुस्तिका में कन्नौज का शौधपूर्ण विवरण दिया गया है, उसमें भी कन्नौज में सूर्य मन्दिर होने का

कोई उल्लेख नहीं है। इससे अनेक विद्वानों ने यह मत स्थापित किया है कि कालपी के कन्नौज राज्य का अंग होने के कारण ही कालपी के सूर्य–मन्दिर को ह्वेनसांग ने कन्नौज का मन्दिर बताया है।

अब प्रश्न उठता है कि सूर्य–मन्दिर कालपी में कहां निर्मित हुआ। डॉ. वी.वी. मिराशी कभी कालपी नहीं गये परन्तु उन्होंने इसको कालप्पदेव के टीले के निकट होने की संभावना को स्वीकार किया है। श्री परिपूर्णानन्द वर्मा ने कालप्पदेव टीले के निकट एक भग्न सूर्य–प्रतिमा मिलने के आधार पर ही उस टीले को सूर्य–मन्दिर का स्थान माना है। यह टीला कालपी नगर के पश्चिम में है।

कालपी निवासी डॉ. राधाकान्त पाण्डेय ने अपने शोधप्रबन्ध 'कुंदमाला तथा उत्तररामचरित नाटक का तुलनात्मक अध्ययन' में, स्थानीय विश्वासों तथा स्थल की पड़ताल करने के बाद इसे गुलौली ग्राम के निकट बताया है। इस स्थल पर एक टीले पर बनी हुई सात मढ़ियां तथा एक कुण्ड है। प्रतिवर्ष अगहन माह के अंतिम रविवार को वहां सूर्य मेला लगता है। उक्त स्थान कालपी नगर के पूर्व में 2–3 मील की दूरी पर है। यह स्थल डॉ. मिराशी द्वारा इंगित स्थल के ठीक विपरीत दिशा में है।

जालौन जिला गजेटियर में, 'सूर्य–यात्रा तालाब मेला' अगहन के अंतिम रविवार को लगने तथा उसें एक हजार व्यक्तियों के भाग लेने का उल्लेख मिलता है। इस विवरण में सूर्य–स्थान, तालाब तथा मेला, इन तीनों की पुष्टि होती है। पुनश्च, ये सात मढ़ियां इसी स्थान पर बनी हैं, जिनकी चर्चा इनायतुल्ला कृत 'आइने कालपी' में मिलती है। इस सब के आधार पर यह तर्कसंगत है गुलौली के निकटवर्ती स्थल को ही, जहां मन्दिर के कुछ ही अवशेष मिलते हैं, सूर्य–मन्दिर स्थल माना जाये।

परन्तु इस सबके बावजूद हमारे मन में यह बात बराबर ही रही कि स्थल का स्वयं निरीक्षण करके वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष आंकलन किया जाये। मेले के समय वहां जाने, मेला दर्शकों से मिलकर परम्पराओं को समझने तथा मन्दिर की विशालता का अनुमान लगाने केलिए स्थल का निरीक्षण आवश्यक लगा। जिसके प्रांगण में इन्द्र तृतीय की सम्पूर्ण वाहिनी समा गयी हो, ऐसा मन्दिर कई मीलों में विस्तृत तथा विशाल होना चाहिए। इस विचार से अगहन के अंतिम रविवार को हमने सूर्य मेला पर उक्त स्थल का प्रत्यक्षदर्शी बनने का निश्चय किया। जिस स्थान पर सूर्य मेला लगता है, उसे सूर्यपतन या सूर्य पत्तन भी कहते हैं। इस स्थान को प्रचलित शब्दावली में 'सत मठिया' भी कहा जाता है। कुछ लोग इसे 'सुअर घटा' नाम से जानते हैं। इस स्थल तक पहुंचने वाले सही मार्ग की जानकारी तो और भी कम लोगों को है।

सड़क मार्ग से, जीप अथवा मोटर साइकिल द्वारा यहां तक पहुंचना दुष्कर है। क्योंकि, वह टीला जहां सतमठियां स्थित है, बीहड़ों के बीच में है। पुनश्च सड़क द्वारा कालपी–हमीरपुर मार्ग पर, केनाल रोड बरही बंबे (केनाल माइनर) से आठ किलोमीटर आगे मदरालालपुर ग्राम में वाहन छोड़कर, बीहड़ मार्ग से पैदल ही जाया जा सकता है।

जल–मार्ग से पहुंचना अपेक्षाकृत सुगम है। यमुना तलहटी में बसे नगर कालपी के मुहल्ला 'तरीबुल्दा' से नाव द्वारा कोई 6–7 किलोमीटर की यात्रा करके वहां पहुंचा जा सकता है। हमने यही विकल्प अपनाया। संदर्भित टीला, यमुना के ठीक किनारे एक ऊंची कगार पर है। गुलौली का यह बीहड़ी क्षेत्र कभी कुख्यात दस्यु मुश्तकीम तथा दस्यु सुन्दरी फूलन देवी का अभयारण्य रहा है। आजकल भी गुलौली क्षेत्र में अपराधों की बहुतायात होने के कारण, वहां जाना निरापद नहीं माना जाता है। इसके अतिरिक्त इस स्थान के लिए नावों का आवागमन भी नियमित नहीं है, यह भी एक कष्टदायी बात है।

मेरे अनन्य मित्र एवं समाजसेवी कालपी निवासी ड़ॉ रामनरेश मैहर ने एक नाव की व्यवस्था की। साथ जाने वालों में उनके अतिरिक्त पत्रकार ब्रजेन्द्र निगम तथा कालपी कॉलेज के प्रवक्ता श्री हरिनारायण बाजपेई भी थे। कुछ दूर चलने के बाद नाविक ने बताया कि उसके पास पतवार नही है। अब नाव 'गुन' से चलानी पड़ेगी। गुन एक मजबूत रस्से को कहते हैं, जिसका एक सिरा नाव से बांध देते हैं तथा दूसरा किसी एक डंडे में बांधकर उसे छाती से चिपकाकर एक व्यक्ति किनारे किनारे गंतव्य की दिशा में दौड़ता है। 'गुन' खींचने वाला युवक बल्हार कुंवर सचमुच बड़ा ही बलशाली और स्फूर्त था। कभी कभी नौका के मिट्टी में फंसने पर भी वह रूकता या थकता नहीं था। उसने 6–7 किलोमीटर की यह यात्रा वापिस आने तक उसी तरह दौड़ते हुए पूरी की।

नाविक कल्लू से परिचय पूछने पर उसने बताया कि वह दस्यु फूलन देवी का सगा मौसेरा भाई है। बीते वक्त में फूलन अक्सर उसके घर आया जाया करती थी। उसके फूलन विषयक संस्मरण हमारी यात्रा का पाथेय बने ।यात्रा रोमांचक थी, शहर के व्यस्त जीवन के कोलाहल से दूर शान्त, नीरव यमुना का जलपथ, किनारे और चारों ओर बीहड़ों का विस्तार, जहां कभी दस्युओं के भय से लोग थर–थर कांपते थे।

बांयी ओर, सबसे पहले कानपुर देहात जिले का रसूलपुर गांव दिखता है, जिसके उजड़े हुए खण्डहरों से अतीत का वैभव झांकता है। कोई तीन किलोमीटर आगे, दायीं ओर रायड़ गांव है। इसमें यमुना के किनारे एक टीले पर बाबा लक्ष्मनदास जी रहते थे। जनश्रुति है कि वे अपनी खड़ाऊँ पहनकर जल की सतह पर चलते हुए यमुना पार करते थे। उनकी खड़ाऊ आज भी उनकी मड़ैया में विद्यमान हैं। नित्य प्रति उनकी पूजा होती है, तथा प्रतिवर्ष पौष मास के कृष्णपक्ष की दशवीं तिथि को यहां मेला लगता है। जिसकी मनोकामना पूर्ण हो जाती है, वे बाबा के मन्दिर में उपस्थित होकर 'डला' (प्रसाद से भरी हुई टोकरी) चढ़ाते हैं।

कालपी सूर्य–मन्दिर मार्ग में तीन जलकुंड मिलते हैं। इनमें से प्रथम लक्ष्मन मड़ैया टीले के नीचे है। इसे हलका कुंड कहते हैं। दूसरा, लगभग दो किलोमीटर आगे गुलौली ग्राम के निकट है, इसे मिझला कुंड कहते है, इसके दांयी ओर एक विशाल ईदगाह है, जिसे देखकर इस बात का सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि मुस्लिम संस्कृति, गुलौली क्षेत्र में भलीभांति पोषित हुई। इस जगह से कोई डेढ़ किलोमीटर आगे चलने पर एक ऊंचे टीले पर कुछ पुरानी और जीर्ण मढ़ियां दिखाई देती हैं। इन्हें 'सतमठियां' कहते

हैं। यहां के लोग इसी टीले को सूर्य–मन्दिर मानकर पूजते हैं। टीले के नीचे यमुना तट पर हजारों स्त्री पुरूष मेले की खरीददारी करने में मग्न हैं। इनमें हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी। कुछ यमुना के जल में स्नान कर रहे हैं। लिए जाते हैं, कुछ भग्न अंलकृत शिलाखण्ड पड़े हैं। लोग इन्ही को 'सूरज भगवान' मानकर पूजते मनौतियां करते तथा मनौतियां पूरी हो जाने पर पताकाएं फहराते हैं। हमारे सामने भी अनेक श्रद्धालुओं ने लाल पताकाएं चढ़ाई। लोगों ने बताया कि यह मेला हजारों वर्ष पुराना है। एक साल इसका आयोजन किसी कारण से नहीं हुआ, तो उस साल–अकाल पड़ गया। मेले में कई जिलों के ग्रामीण आते हैं। यहां मन्दिर का कोई भवन नहीं है, सूर्य प्रतिमा भी कोई नहीं है। किन्तु हजारों ग्रामीणों के ह्रदय में इस स्थल के प्रति गहरा श्रद्धाभाव है। यह आस्थामयी पंरपरा ही इस सूर्य मेला की आत्मा है। मेले में, मेला–यात्रियों की सुविधा के लिए पड़ोस के ग्रामों से सामाजिक कार्यकर्ता स्वयंसेवी भाव से आते हैं।

हमने सम्पूर्ण स्थल को खूब गौर से देखा । यह मिट्टी का इलाका है। चारों ओर बीहड़ और मिट्टी के छोटे बड़े कटे फटे टीले। पत्थर, पहाड़ या पहाड़ियों का दूर दूर तक कोई निशान नहीं। लेकिन सतमठियों के नीचे जहां मेला भरता है वहां कुछ दीर्घकाय शिलाखंड जरूर पड़े हैं, उनमें से कुछ स्तम्भों की भांति अलंकृत भी है। कुछ में मूर्तियां और जैन तीर्थकारों की समाधिस्थ मुद्राएं उत्कीर्ण हैं। यहां से,यमुना के किनारे–किनारे पूर्व की ओर चलने पर ऐसे अनेक उपेक्षित शिलाखंड पड़े मिलते हैं। कोई आधा किलोमीटर चलने पर कुंड मिलता है। इसका कुछ भाग पत्थरों का बना ह। इस लोघा कुंड कहा जाता है। जनश्रुति के अनुसार राजा श्रीचंद्र की ज्येष्ठ रानी लोधा के नाम पर इसका नामकरण हुआ है। एक ग्रामीण ने बताया कि अब से कुछ साल तक वह अपने पशुओं का चराने के लिए इस तरफ आया करता था। उस समय कुंड और यमुना के बीच में एक दीवाल थी, जिस पर बैठकर चरवाहे लोकगीत गाते, बुझौवल पूछते तथा गांव के रोजनामचे बखानते थे। बाद में किसी बरसात में चढ़ी हुई यमुना के प्रबल प्रवाह में वह दीवाल बह गयी। इस कुंड सें पूर्व की ओर थोड़ा और चलने के बाद पुनः शिलाखण्डों के ढेर मिलते हैं। इन पर पत्तियां,फूल,पशु तथा मानव–मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। सतमठियों के इस स्थल की कगार को देखने पर, कगार की मिट्टी में फंसी हुई, कोई चार–पांच फुट मोटी पत्थरों की एक लम्बी कतार दिखती हैं, जो किसी विशाल भवन की नींव जैसी लगती है। यह लगभग पौन किलोमीटर लम्बी है।

देखने से ऐसा प्रतीत होता हैं कि पूर्व की ओर जहां उत्कीर्ण शिलाखंडों के ढेर पड़े हैं वहां सिंह–द्वार रहा होगा क्योंकि सूर्य–मन्दिर प्रायः पूर्वाभिमुखी होते हैं। इसके बाद मन्दिर के प्रांगण में, वर्तमान में लोधाकुण्ड के नाम से जाना जाने वाला, सूर्य कुंड रहा होगा क्योंकि प्रत्येक सूर्य–मन्दिर में सूर्य कुंड का होना अनिवार्य तथा शास्त्रोक्त माना गया है। मुख्य मन्दिर सतमठियों के पीछे रहा होगा।

टीले की कगार में धंसी हुई पांच फुट मोटी और पौन किलोमीटर लम्बी पत्थरों

की सतह मन्दिर की प्राचीर की नींव रही होगी। इसकी लम्बाई को ध्यान रखते कुछ टीले के ऊपर जाकर दर्शन कर रहे हैं। दर्शन–स्थल पर अर्थात् जहां लोग दर्शन के हुए इस तथ्य से सहमत होना सहज हो जाता है कि मन्दिर विशाल और विस्तृत रहा होगा। तथा इसमें राष्ट्रकूट नरेश इंद्र तृतीय की सम्पूर्ण वाहिनी समा गयी होगी। अवशिष्ट उत्कीर्ण शिलाखण्डों की स्थिति को देखकर लगता है। कि शेष शिलाखंड लुढ़क–लुढ़ककर यमुना में बह गंये होंगे और सैकड़ों वर्षो के अतंराल में मिट्टी की तहों के नीचे दबे हुए अपने उत्खनन और उद्धार की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

इसी स्थल के दक्षिण की ओर मन्दिर से यमुना नदी तक जाने के लिये सूर्यघाट रहा होगा, यही सूर्यघाट कालान्तर में 'सुअरघटा' कहलाने लगा। मदरालालपुर गांव से यमुना नदी के रास्ते को पूरे इलाके के लोग आजकल इसी नाम से पुकारते हैं। बुन्देली में 'मरघट' को 'मरघटा' पनघट को 'पनघटा' कहा जाता है। इस आधार पर 'घाट' को 'घटा' कहना तर्कसंगत लगता है। सूर्यघाट→सूरघाट→सूरघाट→सुअरघटा।

टीले पर बनी हुई सतमठियों की वास्ततिक संख्या छः है। लगता है। सातवीं मठिया बिल्कुल ही नष्ट विलुप्त हो गयी। विद्यमान छः मठियों में कुछ एककक्षीय हैं, कुछ दो कक्षीय तथा कुछ तीनकक्षीय। संभव है ये प्राणोत्सर्ग करने वाली, श्री चंद्र की रानियों के पद स्तर के अनुसार बनायी गयी हों। कुछ लोगों का कहना हैं मठियों की संख्या सात न होकर सौ थी, जो कालान्तर में नष्ट हो गयी, तथा यही शब्द 'सतमठियां' न होकर 'शतमठिया' हैं। संभव है कि कभी सूर्य–मन्दिर के अवशेषों के रूप में अनेक जीर्ण भवन रहे हों तथा पीढी–दर–पीढ़ी कहते –सुनते, उन्हें शत–मठियां कहां जाने लगा हो। इनमें लगी सामग्री की दृष्टि से यह पुनर्निर्मित प्रतीत होती हैं।

सूर्य मन्दिर के क्षेत्र में एक नगर विकसित रहा होगा, जिस कारण इस स्थान को सूर्यपतन या सूर्यपत्तन भी कहते हैं। 'पतन' या 'पत्तन' जलपथतटीय नगरों के लिए प्रयुक्त होता है।

मन्दिर स्थल से पतवार विहीन नाव द्वारा कालपी वापस आने में अपेक्षित समय लग गया। हम लोग चांदनी रात में, यमुना के जल में नौका बिहार का आनन्द ले रहे थे। उधर कालपी में, हमारे मित्रों तथा प्रियजनों को हमारे समय से न लौटने कारण चिन्ता हो रही थी। गुलौली जैसे अरक्षित इलाके से रात में नौ बजे तक न लौटना, उद्विग्नता का विषय था ही। जब हम रात को लगभग साढ़े नौ बजे लौटे तो पता चला कि हमारी खोज का अभियान का प्रारम्भ हो चुका था।

इस रोमांचक और खोजपूर्ण यात्रा की कहानी अभी अधूरी ही है। इस विशाल विस्तीर्ण एवं विलुप्त ऐतिहासिक मन्दिर की खोज में जिज्ञासुजनों को न जाने कितनी बार उन निर्जन बीहड़ो में जाकर अध्ययन और मनन करना होगा। पुरातत्व विभाग को उत्खनन करना होगा। खोज–यात्रा की विलुप्त कड़ियां तभी पूरी होंगी।

•

महोबा का किला

देश का अतीत उसकी संस्कृति अस्मिता और गरिमा विभिन्न भागों में बने दुर्गों से ही रक्षित हैं। वे केवल युद्ध संचालन के केन्द्र ही नहीं थे। अपितु कला और संस्कृति के पोषक भी थे। ये दुर्ग विभिन्न राज्यों के उत्थान–पतन, वैभव–पराभव के साक्षी हैं। सैनिक स्थापत्य की दृष्टि से देश में जो दुर्ग बने, उनमें बुन्देलखण्ड क्षेत्र के चन्देलकालीन अनेक दुर्ग महत्वपूर्ण हैं। चन्देलों के आठ दुर्ग थे। जिनमें कालिंजर कालपी और महोबा दुर्ग का विशेष महत्व हैं। यहां हम महोबा–दुर्ग की चर्चा करेंगे।

महोबा नगर झांसी मानिकपुर रेलवे लाइन पर स्टेशन से लगभग 4 किलोमीटर दूर बसा पुरातन नगर है। जिला गजेटियर के अनुसार त्रेता में केकयपुर तथा द्वापर में पाटनपुर इसके नाम मिलते हैं। चंदेलवंश के संस्थापक राजा चन्दवर्मन का कोई शिला लेख न मिलने तथा इतिहासकारों द्वारा प्रथम चंदेल राजा नान्नुक को मनाने के कारण एक मत यह भी है। कि चन्द्रवर्मन तथा नान्नुक एक ही शासक के नाम हैं। नान्नुक के पुत्र वाक्पति तथा पौत्र जेजा उर्फ जयशक्ति के काल में यह दुर्ग बना तथा उसके नाम से यह क्षेत्र जेजाकभुक्ति के रुप में जाना जाता है। बुन्देले शासकों के काल में स्थापत्य तथा मूर्तिकला भली भांति फूली फली।

महोबा का किला सुरक्षा की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। यह ऊंची पहाड़ी पर बनाया गया था। इसकी लंबाई 1625 फुट तथा चौड़ाई 600 फुट थी। चंदेलों के अन्य दुर्गों की भांति इसकी दीवाल भी पत्थर और चूने की बनी है। प्राचीर 10 से 12 फुट तक चौड़ी थी। इस तरह की दीवारें तोपों के गोलों से आसानी से नहीं ढह पाती थीं। किले की दीवार एक दम लंबी होने बजाय बीच में गुर्ज बने हैं ताकि दीवार में ताकत बनी रहे। कहीं–कहीं प्राचीर और बुर्जो के भग्नावशेष अभी भी विद्यमान हैं। किले को तोपों की मार से इसे बचाने के लिये ऊंचे–ऊंचे वृक्ष लगाये गये थे। प्राचीर के चारों ओर चौड़ी खाई थी। इसके दो प्रमुख द्वार थे। पश्चिम की ओर का द्वार–भैंसासुर दरवाजा तथा पूर्व की ओर का द्वार दरीबा दरवाजा कहलाता है। आल्हखंड में वर्णित उल्लेखों के अनुसार यह द्वार पूर्ण रक्षित थे। ऐसे विशिष्ट दुर्ग को ध्वस्त कर पाना किसी साधारण शासक के सामर्थ्य में नहीं था।

किले के पादभाग में चंदेलों के कुल देवता 'मनियाँदेव' का मन्दिर है। इसमें मूर्ति का अग्रभाग न होकर पीठ है। यद्यपि मनियांदेव का मुख्य मंदिर केन नदी के किनारे मनियांगढ़ में है किन्तु प्रत्येक शुभकार्य में स्मरणीय कुल देवता होने के कारण उनका मंदिर यहां भी बनवाया गया। मनियांदेव के मंदिर से ऊपर की पहाड़ी पर, दुर्ग के भगनावशेष पर अब जलसंस्थान, जलाशय तथा अन्य कार्यालय भवन बन गये हैं। इस मंदिर के सामने ग्रेनाइट पत्थर का 18 फुट ऊंचा एक दीप स्तम्भ है। जिसे दीवट कहते हैं। जनश्रुति के अनुसार आल्हा स्वयं इस दीप स्तम्भ पर दीप प्रज्वलित करते थे।

इस दुर्ग के दक्षिणपूर्व का क्षेत्र दरीबा कहलाता है। यहां भी एक स्तम्भ है, जिसे आल्हा की लाट या आल्हा की गिल्ली कहते हैं। यह साढ़े नौ फुट ऊंचा है और इसका व्यास 13 इंच है। यह इस प्रकार रक्खी है कि स्पर्श मात्र से घूमने लगती है। इसी के निकट एक और स्तम्भ है जो दो वर्ग फुट है, इसमें अश्वारोही की मूर्ति बनी है। इसे 'चन्द्रमतावर' कहते हैं। सभी धर्मों के लोग विवाहादि अवसरों पर इस पर तेल चढ़ाते तथा इसकी पूजा करते हैं।

सिंहनाद अवलोकितेश्वर

महोबा के सौन्दर्य को निखारने के लिये चंदेल शासकों ने दुर्ग के निकट चारों ओर अनेक सरोवर, स्तम्भ तथा मूर्तियां बनवाई थीं। इनमें मदनसागर, कीर्ति सागर, कल्याण सागर, विजय सागर तथा राहिल सागर प्रमुख हैं। दुर्ग के दक्षिण में राजा मदनवर्मन द्वारा निर्मित मदनसागर तीन मील के घेरे में है। इसके तीन आर पहाड़ियों तथा एक ओर घाट एवं देवालय है। इसके मध्य में ग्रेनाइट पत्थर से बना ककरामठ है। कनिंघम के अनुसार यह शिवमंदिर था, किन्तु अब वहां कोई मूर्ति नहीं है। यह मंदिर 103 फुट लंबा तथा 42 फुट चौड़ा है। इसमें ग्रेनाइट शिलाखण्डों के बीच बलुआ पत्थर की छह अलंकृत जीवाकार हस्ति प्रतिमायें हैं अनुमान है कि यह अष्टदिक् पाल की कल्पना पर बनी होंगी तथा इनकी संख्या आठ रही होगी।

मदनसागर के पश्चिम में गोरखगिरि नामक पहाड़ी की पादभूमि पर ग्रेनाइट शिला पर भगवान शिव की महाकाल मुद्रा में दसभुजी गोमान्तक प्रतिमा है। जिसे यहां के लोग शिव–ताण्डव कहते हैं। यह कूर्म पुराण के गजासुर–वध कथानक पर आधारित है।

महोबा दुर्ग के निकट एक पहाड़ी से छह बुद्ध प्रतिमायें मिली हैं। इनमें से एक सिंहनाद अवलोकितेश्र की है। यह भारतीय मूर्तिकला की श्रेष्ठ कृतियों में से एक मानी जाती है। इसका अंग–सौष्ठव तथा भावाभिव्यक्ति दर्शनीय है। यह राज्य संग्रहालय लखनऊ में सुरक्षित है।

इसी दुर्ग में चंदेलों का राजप्रासाद था। अंतिम शासक परमाल के कारण अब

लोग इसे परमाल महल के नाम से जानते हैं। यह अपने उत्कर्ष काल में स्वर्ण जटित, अलंकृत तथा वैभवपूर्ण था। यहीं परमाल का दरबार लगता थां। आल्हखण्ड में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है।

"जैसे इन्द्रपुरी मन भावनि, सब सुख खानि लेऊ पहिचान
तैसेई धन्य धरनि महुबें की, भट, निर्मोह, वीर की खान।
कंचन भवन, विविध रंग रचना, अद्भुद इंद्र मनोहर जाल।
रत्न जटित सिंहासन शोभित, तापर न्याय करें परमाल।"

इस दुर्ग में राजसेवकों की बस्ती, सैन्य संचालन केन्द्र और शस्त्रागार भी था। जवारों की लड़ाई में सैकड़ों डोलों पर बैठी महिलाओं द्वारा जवारे खोंटने के लिये किले से निकलने का उल्लेख मिलता है। शस्त्र सज्जित सैनिकों के भी दुर्ग से निकलने का वर्णन है। चंदेलों की सेना चतुरंगिणी न थी। किन्तु हस्ति–सेना अश्वसेना और पैदल सेना थी। सेनापति और बलाध्यक्ष इसी दुर्ग में रहते थे। इस शस्त्रागार में तलवारों के अलावा निम्न शस्त्र मिलने का उल्लेख है– तेगा, धुरी, कटार, विछुआ, बघनखा, बगुर्दा, गुर्ज, फरसा, खाँड़ौ, भुजाली, दाव, भाला, बल्लम बर्छी सांग, त्रिशूल, चक्र, तोप तुपक आदि।

इस वैभव संपन्न दुर्ग तथा प्रासाद को पहले पृथ्वीराज चौहान और बाद में ऐबक का कोपभाजन बनना पड़ा। इन युद्धों में यह किला तथा प्रासाद ध्वस्त हो गया। मदनपुर शिलालेख के अनुसार पृथ्वीराज चौहान की सेनाओं ने जैजाकभुक्ति को ध्वस्त कर दिया। इससे अभिप्राय जैजाकभुक्ति के राज्य संचालन केन्द्र महोबा को ध्वस्त करने से है। अब इसमें से एक बारादरी मात्र शेष बची है। यह 80 फुट लंबी, 25 फुट चौड़ी और 12 फुट ऊंची है। अनेक मूर्तियों और ज्यामितीय चित्रों से अलंकृत इसके स्तम्भों की आठ पंक्तियां तथा चौड़ाई में तीन पंक्तियां हैं। इससे इस बारादरी के अग्रभाग के सात दरवाजों का निर्माण होता है।

महोबा का दुर्ग राजा यशोवर्मन सहित अनेक चंदेल नरेशों द्वारा अनेक साम्राज्य जीतकर चंदेल राज्य का विस्तार करने, महमूद गजनवी द्वारा अकूत धनसंपदा लूटकर ले जाने,कीर्तिवर्मन तथा मदनवर्मन द्वारा चंदेल शक्ति को पुनरुज्जीवित कर के समकालीन राजाओं पर प्रभुता स्थापित करने का साक्षी है।

यूं तो इस एक दुर्ग ने अनेक युद्ध देखे हैं किन्तु कीरत सागर के किनारे जवारे खोंटती बुंदेली ललनाओं पर आक्रमण करने वाले दिल्लीपति सम्राट पृथ्वीराज चौहान को, आल्हा ऊदल नामक बनाफर युवकों के शौर्य के सम्मुख, पराजित होते भी देखा है। इन शौर्यपुत्रों की प्रशस्ति में महोबा के राजकवि जगनिक द्वारा रचित आल्हखण्ड, जन जन का काव्य बन गया है। जो बुन्देली ही नहीं अपितु अन्य लोक भाषाओं में भी रुचिपूर्वक गाया और सुना जाता है।

•

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का संचालन केन्द्र : कालपी दुर्ग

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का लगभग पांच माह तक संचालन केन्द्र रहने वाला कालपी दुर्ग अब अपने अस्तित्व के लिये अंतिम संघर्ष कर रहा है। इसका अधिकांश भाग पहले ही नष्ट हो चुका था। अवशेष केन्द्रीय कक्ष, जो महान क्रान्तिकारियों नानासाहब पेशवा, तात्या टोपे, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, पटना के राजा कुंवर सिंह, बांदा के नबाव तथा जालौन की रानी ताईबाई का मंत्रणा कक्ष तथा मरहठों का कोषागार रहा है, की छत में मोटी–मोटी दरारें पड़ चुकी हैं। शासन द्वारा इस ओर समुचित ध्यान न दिये जाने से अब यह ढहने के कगार पर है। पुरातत्व विभाग ने अपना शिलापट लगाकर अपने कर्तव्य की इति श्री समझ ली है। स्वाधीनता की स्वर्ण जयन्ती में करोड़ों रूपये के भारी बजट में इसे फूटी कोंड़ी भी मयस्सर नहीं हुई थी। समारोहों की चमक दमक से कोसों दूर, स्वतंत्रता का यह महान स्मारक, अपने उद्धार के लिये आशा भरी टकटकी लगाये निहार रहा है।

कालपी 1857 ई0 के अंतिम दिनों में ही क्रान्ति का प्रमुख केन्द्र बन चुका था। 6 दिसम्बर को कानपुर में नाना साहब की पराजय के बाद क्रान्तिकारी कालपी आ गये थे। 2 जनवरी 1858 से कालपी को अपनी गतिविधियों का नियंत्रण केन्द्र बनाकर क्रांन्तिकारियों ने वहां अपनी भावी व्यूह रचना प्रारम्भ कर दी थी। इसी दिन नाना साहब पेशवा के सेनानायक तात्या टोपे तथा शिविर सहायक मुहम्मद इशहाक ने बुन्देलखण्ड के समस्त शासकों को व्यक्तिगत पत्र भेजकर उनसे सहयोग की याचना की थी तथा अपनी सेनायें कालपी भेजने की प्रार्थना की थी। इस प्रकार कालपी को केन्द्र बनाकर 2 जनवरी से 23 मई 1858 ई0 तक अंग्रेजों के विरूद्ध अभियान चलाया गया। लड़ाइयां चरखारी, कोंच, कालपी या कानपुर कहीं भी हुई हों उनका नियंत्रण तथा उच्चस्तरीय मंत्रणा इसी दुर्ग से हुई।

दो जनवरी 1858 ई0 को जो पत्र बुन्देलखण्ड के शासकों को भेजे गये थे, उसमें यह स्पष्ट किया गया था कि यह संघर्ष देश में जनशक्ति तथा सद्भाव के लिये किया जा रहा है। इसका उद्देश्य हिन्दू तथा मुस्लिम धर्म भ्रष्ट करने वाले ईसाई शासकों का देश से निष्कासन है। इसका उद्देश्य पेशवा द्वारा किसी राज्य पर कब्जा करना नहीं अपितु विभिन्न शासकों का शासित क्षेत्र उन्हें दिलाना है। ताकि वे उस पर शान्तिपूर्वक राज्य कर सकें। मुहम्मद इशहाक ने अपने पत्र में यह भी उल्लेख किया था कि ब्रिटिश नियंत्रण के राज्य क्षेत्र, बुन्देलखण्ड के शासकों में, क्रान्ति के सहयोग में उनकी भूमिका के आधार पर, वितरित किये जायेंगे। इस पत्र के साथ बाबा देवगिरि को विशेषदूत के रूप में भेजा गया था। यहीं से सामूहिक क्रान्ति का नियोजित अभियान प्रारम्भ हुआ था। इसके पूर्व विभिन्न राजा महाराजा अपने व्यक्तिगत स्तर पर युद्ध कर रहे थे।

तात्या टोपे ने उक्त विज्ञप्ति जारी होने के बाद कालपी में शस्त्रागार तथा सेना की कमान का नेतृत्व संभाल लिया। जालौन के तहसीलदार नारायण राव को कार्यालय प्रभारी बनाया गया। पेशवा नानासाहब के भतीजे राव साहब ने स्थायी रूप से कालपी दुर्ग में अपना आवास बनाकर डेरा डाल दिया। नाना साहब के भाई बालाशाह भी मकरसंक्रान्ति के पवित्र दिन कालपी आ गये।

कालपी दुर्ग में आयुध–निर्माण केन्द्र स्थापित कर दिये गये। जालौन से आकर कसगरों ने स्थानीय शोरा, कोयला तथा मिर्जापुर से प्राप्त गंधक से बारूद बनानी प्रारम्भ

कालपी के किला का अवशेष भाग (मरहठों का कोषागार)

कर दी। तोपों की ढलाई का काम जोरों से शुरू कर दिया गया। किले के अन्दर एक भूमिगत शस्त्रागार बनाया गया जो उस समय के क्रान्तिकारियों का सबसे बड़ा शस्त्रागार माना जाता था। दुर्ग के अंदर एक अच्छा खासा उपनगर स्थापित किया गया था।

जिले में अंग्रेजों का प्रवेश रोकने तथा सीमाओं पर नियंत्रण के लिये जगम्मनपुर से हमीरपुर जाने वाली फेरियों की समस्त नौकाओं का नियंत्रण जगम्मनपुर तथा कालपी में क्रान्तिकारियों ने अपने हाथ में ले लिया था।

भारतीय अभिलेखागार में सुरक्षित दस्तावेजों के अनुसार अंग्रेजी अफसरों को यह सूचना गुप्तचर तंत्र से मिली थी कि 6 जनवरी को कालपी दुर्ग में तीन हजार विद्रोही

क्रान्तिकारी 12 बड़ी तोपों के साथ एकत्रित हैं। धीरे–धीरे सैनिकों की संख्या दस हजार हो गई।

अप्रैल के प्रारम्भ में रानी लक्ष्मीबाई झांसी में पराजित होकर कालपी पहुंची। सर ह्यूरोज ने भी उस ओर ससैन्य प्रस्थान किया। कालपी सैन्य दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था कि क्रान्तिकारियों ने उसे बचाने हेतु सर ह्यूरोज की सेना को कोंच में रोकना तथा कोंच को युद्ध क्षेत्र बनाना अपेक्षाकृत सुविधाजनक माना। क्रान्तिकारियों ने यह निर्णय उसकी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण लिया। यद्यपि कोंच एक खुला नगर है तथापि उसके चारों वृक्षों, बाग तथा मन्दिरों की ऊँची दीवारें हैं जो युद्धकाल में रक्षा पंक्ति का काम करती हैं । योजनानुसार तात्याटोपे तथा रानी लक्ष्मीबाई ने कोंच आकर मोर्चा संभाल लिया। क्रान्तिकारियों के साथ कोटा के अश्वरोही सैनिक, गज सेना, पद्धति सेना तथा सात हजार सैनिक सशस्त्र बारूद के साथ तैयार थे।

7 मई को कोंच में हुये भीषण युद्ध में लगभग 500 क्रान्तिकारी शहीद हुये। कोंच के मोर्चो पर कुछ अप्रशिक्षित सैनिकों की भर्ती तथा सैन्य अनुशासनहीनता से मिली पराजय से क्षुब्ध क्रान्तिकारियों के सामने जीवन मरण का प्रश्न था। राव साहब, तात्या टोपे, नबाब बांदा, रानी लक्ष्मीबाई, ताईबाई तथा अन्य क्षेत्रीय शासक भी अपने संसाधनों सहित कालपी आ गये। क्रान्तिकारियों के प्रति जनता में अत्यन्त आदर का भाव था। मार्ग में ग्रमीण इनको पेय जल तथा स्वागत की व्यवस्था करते, बैलगाड़ियां देते तथा अंग्रेजी डाक छीनकर क्रान्तिकारियों को दे देते थे। इस उमड़ते जनसमर्थन से ब्रिटिश अधिकारी हैरत में थे।

क्रान्तिकारी यह सोचते थे कि अंग्रेजों की सत्ता भले ही पूर्व से पश्चिम तक क्यों न फैल जाये, केन्द्र की चूल कालपी उसके पास है। उतः इसकी रक्षा उन्हें प्राणपण से करना है । इसके लिये वे अंतिम संघर्ष में जुटे थे।

कालपी दुर्ग में चल रही इन तैयारियों का उल्लेख 21 जुलाई 1958 ई0 के अंक एक संपादकीय लेख के रूप में फ्रैडरिक ऐंगिल्स द्वारा इन शब्दों में किया गया–"मई के मध्य तक कालपी की सेना को छोड़कर उत्तर भारत की समस्त सैनिक टुकड़ियों ने बड़े पैमाने पर लड़ाई करना छोड़ दिया था। कालपी की सेना ने अपेक्षाकृत थोड़े ही समय के अंदर उस शहर में सैनिक कार्यवाहियों का एक पूरा केन्द्र संगठित कर लिया था। खाने पीने का सामान, बारूद और दूसरी आवश्यक चीजें उनके पास प्रचुर मात्रा में थी। उनके पास बहुत सी तोपें थीं और यहां तक कि बंदूकें तथा अन्य हथियार ढालने और बनाने के कारखाने भी थे।"

लावेंज कृत 'सेन्ट्रल इण्डिया' के अनुसार सेनानियों ने किले के अंदर मकानों

तथा शिविरों का निर्माण किया था। आयुधशालायें भी तैयार की थीं। उनके द्वारा ढाले गये ब्रासशैल्स अदोष थे। उनके पास शैल्स तथा साठ हजार पौण्ड बारूद का विशाल भण्डार था । इससे प्रतीत होता है कि वे स्वतंत्रता सेनानी लम्बी अवधि के लिये तैयार थे।

क्रान्तिकारियों ने चौरासी गुम्बज से यमुना तक के सभी मार्ग काट दिये थे। स्थान–स्थान पर खाइयां खोद दी थी। ब्रिटिश सेना के अवरोध के लिये तेरह चौकियां स्थापित की थीं। दस हजार सशस्त्र सैनिक सन्नद्ध थे। दौ सौ नौकायें उनके नियंत्रण में थीं। उन्होंने बीहड़ों में भी अवरोध बनाकर प्रथम रक्षापंक्ति तैयार कर ली थी। दूसरी रक्षा पंक्ति चौरासी गुम्बज की दिशा में बनाई गई थी। दूसरी ओर यमुना के उस पार गुलौली में अंग्रेजी सेनायें तैयार थीं। बम्बई और बंगाल से आई सेनायें, पीपे के पुल, बीहड़ों में टोह लेने के लिये ऊंट–वाहिनियों तथा मैक्सवेल द्वारा लाई गई तोपों से कालपी के युद्ध की तैयारी अंग्रेजों ने कर ली थी। सेनानायक सर ह्यूरोज ने बाइस मई को कालपी पर आक्रमण का आदेश दिया । तोपों के मुंह कालपी के इस ऐतिहासिक दुर्ग को नेस्तनाबूद करने के लिये बीस घण्टे लगातार आग उगलते रहे । क्रान्तिकारियों की ओर से गोलाबारी धीमी थी। अंग्रेजी सेनायें सफलता की ओर बढ़ने लगी।

तेईस मई को उगते सूर्य के प्रकाश में ब्रिटिश सेना ने कालपी में प्रवेश किया। क्रान्तिकारियों के पैर उखड़ गये। अब उनका एक ही प्रयास था कि कोई क्रान्तिकारी जीवित बन्दी न बन सके। उनका यह प्रयास सफल रहा।

अंग्रेजी सेना ने कालपी दुर्ग के एक कक्ष में एक बक्से में रानी लक्ष्मीबाई का महत्वपूर्ण पत्र–व्यवहार बरामद किया। इसमें विद्रोह तथा विद्रोहियों पर प्रकाश पड़ता था। अंग्रेजों को दुर्ग में छह सज्जित हाथी मिले। तोपें तथा गोले बनाने के चार निर्माण केन्द्र मिले। दुर्ग के अन्दर भूमिगत विशाल शस्त्रागार में पांच सौ बैरल बारूद, स्थानीय निर्मित 18 रांउड वाली ब्रासगन, 8 इंची ब्रास मोर्टार दो 9 इन्ची ब्रास पावडर गन्स मिलीं। कई अन्य तोपें नौ हजार कारतूस तथा अनेक अन्य अस्त्र–शस्त्र, उपकरण तथा पुर्जे भी मिले।

कालपी दुर्ग का शेष बचा केन्द्रीय कक्ष साक्षी है कि इस युद्ध में हजारों सैनिकों की रक्तधारा से यमुना लाल हो गई थी। यदि शासन की यह अपेक्षा इसी तरह रहेगी तो प्रथम क्रान्ति का प्रत्यक्ष दर्शी इस दुर्ग का शेष भाग भी ढह जायेगा। दुर्ग को यमुना से जोड़ने वाली सीढ़ियां तथा किला घाट अभी मौजूद है। वहां मरहठाकालीन मंदिर भी बने हैं। शासकीय उपेक्षा के चलते इस महान विरासत का हमेशा के लिये गुमनामी के अंधेरे में खो जाने का अंदेशा है।

•

एक और जलियाँवाला बाग – हरचंदपुर

आजादी की मांग कर रहे देशभक्तों को सामूहिक रुप से गोलियों से भूनने का जो नृशंस उदाहरण डायर ने अमृतसर के जलियांवाला बाग में प्रस्तुत किया था, वह क्रूर शासकों की निर्ममता का घिनौना उदाहरण है। ठीक वैसा ही एक उदाहरण जालौन जिले में घटित हुआ। यहां बुन्देलखण्ड क्षेत्र के बावनी राज्य में, ग्राम हरचंदपुर में, नबावी राज्य में त्रस्त जनता को, मुक्ति दिलाने के लिये ग्यारह देश भक्तों को अपना बलिदान करना पड़ा था। उनका बलिदान सार्थक हुआ, उसके कुछ ही दिनों बाद जनता नवाबी–कुशासन से स्वतंत्र हुयी और लोगों ने प्रत्यक्ष देखा कि अधर्म और अनीति के कारण एक वैभवयुक्त शासन की

गरिमा मिट्टी में मिल गयी। कुशासन की संचालक बेगम को जनरोष के कारण जान बचाकर जयपुर में रहकर निर्वासित सा जीवन बिताने को विवश होना पड़ा और एक कवि की यह भविष्यवाणी सार्थक हो गई–

"याद रहे रंग लायेगा आखिर इक दिन बलिदान हमारा।
फहरेगा शौकत मंजिल की छाती पर यह निशां हमारा।।"

एक समृद्ध राज्य के उदय से विलय तथा वहां के जनमुक्ति आन्दोलन पर

विहंगम दृष्टिपात करना यहां प्रासंगिक है।

बाबनी राज्य की स्थापना हैदराबाद के निजाम तथा दिल्ली के बादशाह के मंत्री गाजीउद्दीन खां ने सत्रह सौ चौरासी ई0 में की थी । वे नवाब गाजी खां फीरोज जंग कहलाये। इस नये राज्य को पूना के पेशवा द्वारा सनद दी गयी जिसे ब्रिटिश शासन ने मान्यता प्रदान की। कदौरा इसका मुख्यालय बनाया गया। बाबन ग्रामों का समूह होने के कारण यह 'बाबनी' कहलाया। बाबनी राज्य के नबाबों का वंशक्रम इस प्रकार है–

गाजीउद्दीन, नसीरुद्दौला, मुहम्म्द हुसैन खां, रियाजुल हसन खां तथा मुहम्मद मुश्ताक उल हसनखां। सम्पूर्ण उपाधियों सहित अन्तिम नवाब का पूरा नाम इस प्रकार लिखा जाता था–

"आजम उल उमरा, इफ़्तिखार उद्दौला, इमाद–उल–मुल्क, साहिब–इ–जाह, मिहिम–सरदार–हिज–हाइनैस नवाब मुहम्मद मुश्ताक उल हसन खां बहादुर सफदर जंग।" नबाब को सभी दीवानी एवं फौजदारी अधिकार थे। ग्यारह तोपों की सलामी तथा वाइसराय से वापिसी मुलाकात का अधिकार इन्हें प्राप्त था। इस वैभवपूर्ण साम्राज्य के अन्तिम शासक मुश्ताक उल हसन का विवाह राजस्थान के टौंक में नबाबी परिवार की एक युवती से हुआ था। प्रथम पत्नी की असामयिक मृत्यु के बाद उसी परिवार की एक अन्य युवती शौकतजहां उनकी दूसरी बेगम बन गई। वे संगीत प्रेमी थीं। टौंक के ही एक गायक बुन्दू कब्बाल को वे अपने साथ लाई थीं। वह नवाब साहब के महल "शौकत मंजिल" में बेगम साहिबा का सबसे विश्वस्त व्यक्ति था। नबाब साहब, खुदापरस्त संत व्यक्ति थे। बेगम शौकत जहां ने धीरे धीरे राज्य संचालन सूत्र अपने हाथ में ले लिया। बड़ी बेरहमी से उसने जनता का शोषण प्रारम्भ कर दिया। उसकी आराम–तलबी तथा संगीतमय वातावरण में बाधा न पड़े, इसलिये शंख, घंटा, घड़ियाल का बजाना अवैध तथा अपराध घोषित कर दिया गया। तिरंगा पैरों तले रौंदा जाने लगा। तिरंगा फहराने, भाषण देने, नारे लगाने तथा जुलूस निकालने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बेगार प्रथा चरमोत्कर्ष पर पहुंच गयी। इसके विरोध हेतु बाबनी प्रजामंडल का गठन पं0 विश्वनाथ व्यास के नेतृत्व में किया गया। गांधीवाद के वातावरण में, बेगार से त्रस्त जनता की मुक्ति के लिये, उन्नीस सौ छियालीस में जन जागरण प्रारम्भ हुआ। नबाबी हुकूमत के विरुद्ध आवाज उठाने के विरोध में दीवान ख्वाजा फीरोजुद्दीन की अनुशंसा पर नबाब साहब ने पांच अगस्त उन्नीस सौ छियालीस को पं0 विश्वनाथ व्यास, उनके पुत्र रमाशंकर व्यास तथा जगन्नाथ सिंह (कानाखेड़ा) को रियासत से निष्कासन के आदेश दे दिये।

इसी बीच चार अप्रैल उन्नीस सौ सैंतालीस को ग्वालियर में अखिल भारतीय देशी राज्य लोकपरिषद् सम्मेलन हुआ। इसमें पं0 जवाहर लाल नेहरु, डा0 पट्टाभि सीतारमैया

आदि आये और देशी राज्यों से अपील की कि वे जनता को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन सौंप दें। आठ जून उन्नीस सौ सैंतालीस को ग्राम मरगायां में एक सम्मेलन हुआ जिसमें लगानबन्दी आन्दोलन तथा बाबनी स्टेट में जनतंत्रीय सरकार कायम करने के प्रस्ताव पारित किये गये। इसके बाद बाबनी राज्य प्रजामण्डल के मंत्री जगन्नाथ सिंह को दिनांक बाईस जून उन्नीस सौ सैंतालीस को बन्दी बनाकर तनहाई में डाल दिया गया। विन्ध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री लालाराम बाजपेयी तथा जिले के प्रमुख कांग्रेसी नेताओं द्वारा दो दिन की वार्ता के बाद उन्हें रिहा किया गया। भाषण देने और जुलूस निकालने पर सहमति हो गई।

रियासत के अधिकारियों द्वारा दमनात्मक कार्यवाही का चरमोत्कर्ष पच्चीस सितम्बर उन्नीस सौ सैंतालीस को देखने को मिला। उस समय तक देश आजाद हो चुका था मगर बाबनी राज्य की जनता नबाव की पराधीन प्रजा थी। जनता के ग्राम हरचन्दपुर में झंडा फहराने का कार्यक्रम बनाया। बावनी राज्य प्रजा मंडल द्वारा आयोजित जुलूस में तिरंगे झंडे तथा बैनर लिये राष्ट्रगान गाते जा रहे देशभक्तों को गांव के एक चौखाटे में पुलिस ने रोक लिया। वह मैदान चारों ओर मकानों से घिरा था। जलियांवाले बाग की तरह एक चौक जैसा मैदान था। कहीं भागने की गुंजाइश नहीं थी। कोतवाल अहमद हुसैन ने हुक्म पढ़कर सुनाया कि जुलूस वापिस लौट जाये। कोतवाल अहमद हुसैन ने अपने 24 सिपाहियों के साथ आन्दोलनकारियों को भाग जाने को कहा, किन्तु कोई टस से मस नहीं हुआ। इसी बीच बाबू सिंह ने दरोगा को पटककर उसकी सर्विस रिवाल्वर छीनने की असफल कोशिश की। इस पर पुलिस और अधिक आक्रामक हो गयी। इक्के दुक्के सिपाहियों को छोड़कर शेष सब मुसलमान थे। पुलिस ने अंधाधुंध फायरिंग प्रारम्भ कर दी। घटनास्थल पर ग्यारह व्यक्ति शहीद हो गये तथा छब्बीस व्यक्ति घायल हुये। इसमें हरचंदपुर के ठकुरी सिंह को छोड़कर शेष सब नौजवान थे। उनक नाम हैं– लल्लू सिंह (ग्राम वागी), कलिया पाल (ग्राम सिजहरा),जगन्नाथ यादव (उदनपुर), मन्ना भुर्जी (उदनपुर), उजागर सविता(जखेला), दीनदयाल पाल(सिजहरा), बलवान सिंह (हरचंदपुर), बाबूराम शिवहरे(जखेला), दीनदयाल पाल (सिजहरा), बलवान सिंह (हरचंदपुर), बाबूराम शिवहरे (हरचंदपुर), तथा श्रीराम यादव(बड़ागांव)।

अगले ही दिन छब्बीस सितम्बर उन्नीस सौ सैंतालीस को जिले के प्रमुख कांग्रेसी नेता पं0 चतुर्भुज शर्मा, पं0 बालमुकुन्द शास्त्री, रामदयाल पांचाल, राधारमन आदि ने मौके पर जाकर जांच की। घटना स्थल सुनसान था। 20–25 स्थानों पर खून पड़ा था। दीवालों तथा खिड़कियों पर गोलियों के छर्रे के निशान स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। लोगों ने खाना पीना छोड़ दिया था। चूल्हे नहीं जले थे। चक्कियां नहीं चली थीं। इन नेताओं के समझाने पर गांव वालों ने भोजन ग्रहण किया। अनेक लोग गांव से पलायन कर गये। बेगार प्रथा

तथा शहीद काण्ड की विस्तृत रिपोर्ट कोंच से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक वीरेन्द्र (सम्पादक श्री गयाप्रसाद गुप्त 'रसाल') ने निर्भीकता से प्रकाशित की। उक्त कांड की निष्पक्ष जांच के लिये एक शिष्ट मण्डल पं0 परमानन्द के नेतृत्व में केन्द्रीय गृहमंत्री सरदार बल्लभ भाई पटेल से मिला। हमीरपुर के कलेक्टर उमराव सिंह को पटेल साहब ने जांच अधिकारी नियुक्त करके, जांच प्रारम्भ कर दी। कदौरा में पन्द्रह दिन कैम्प करके जांच की गयी।

इसी बीच कुछ ग्रामवासी उन्नाव गये। वहां उन्होंने बी0डी0 त्रिपाठी तथा फार्वर्ड ब्लाक के कुछ नेताओं से सहायता की याचना की। इस पर उनके एक कार्यकर्ता डा0 कर्णसिंह 'कुमार' उन्नाव से बबीना आये। उन्होंने फार्वर्ड ब्लाक की ओर से आन्दोलन खड़ा किया। गांव–गांव सम्मेलन प्रारम्भ हुये किन्तु प्रजामंडल से सैद्धान्तिक असहमति के कारण वह आन्दोलन गति नहीं पकड़ सका तथा विफल हो गया।

इधर जांच की रिपोर्ट आने पर नबाब तथा प्रजामंडल में समझौता हो गया। नबाब ने लोकप्रिय मंत्रिमंडल का गठन स्वीकार कर लिया। सात फरवरी उन्नीस सौ अड़तालीस को दीवान का पद समाप्त करके लोकप्रिय मंत्रिमंडल की स्थापना का फरमान जारी कर दिया गया। पं0 विश्वनाथ व्यास को प्रधानमंत्री, मुनउअरउद्दीन को पापुलर मिनिस्टर तथा बशीर हुसैन को स्टेट का नामजद मिनिस्टर बनाया गया। इसी दिन पांच अगस्त उन्नीस सौ छियालीस को जारी निष्कासन आदेश रद्द कर दिया गया।

नबाव की पूर्वानुमति के बिना मंत्रिमंडल द्वारा लिये गये इन निर्णयों से नबाब और मंत्रिमंडल में मतभेद बढ़ गये। चार अप्रैल उन्नीस सौ अड़तालीस को मंत्रिमंडल भंग कर दिया गया। प्रधानमंत्री के पेशकार सुल्तान अहमद खां को उनका विश्वस्त व्यक्ति होने के नाते, जेल में डाल दिया गया। प्रधानमंत्री विश्वनाथ व्यास रात्रि में ही भूमिगत हो गये। मुनउअरउद्दीन अहमद का निवास घेर लिया गया। घेरे के भीतर से ही, उन्होंने सभी जानकारी तार द्वारा विन्ध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री लालाराम बाजपेयी को दी। व्यास जी ने केन्द्र सरकार से सम्पर्क किया। अन्ततोगत्वा केन्द्र सरकार ने बाबनी राज्य को विन्ध्य प्रदेश में सम्मिलित करने तथा प्रशासक की नियुक्ति का आदेश दिया।

चौबीस अप्रैल उन्नीस सौ अड़तालीस को प्रातः 10 बजे विन्ध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री लालाराम बाजपेयी स्टाफ सहित कदौरा आये। नबाब साहब का चार्ज उनसे लेकर स्टेट का कार्यवाहक प्रशासक पं0 विश्वनाथ व्यास को तथा उप–प्रशासक मुनउअरउद्दीन को बनाया गया। नबाब साहब का प्रिवीवर्स 46850/– देना तय हुआ। उसके पश्चात तेरह जून उन्नीस सौ अड़तालीस को इंशाउलहक को बाबनी स्टेट का प्रभारी नियुक्त किया गया। अन्त में पच्चीस जनवरी उन्नीस सौ पचास को इसे उत्तर प्रदेश में मिला दिया गया।

•

भारत में रावण का स्मारक - 'लंका मीनार'

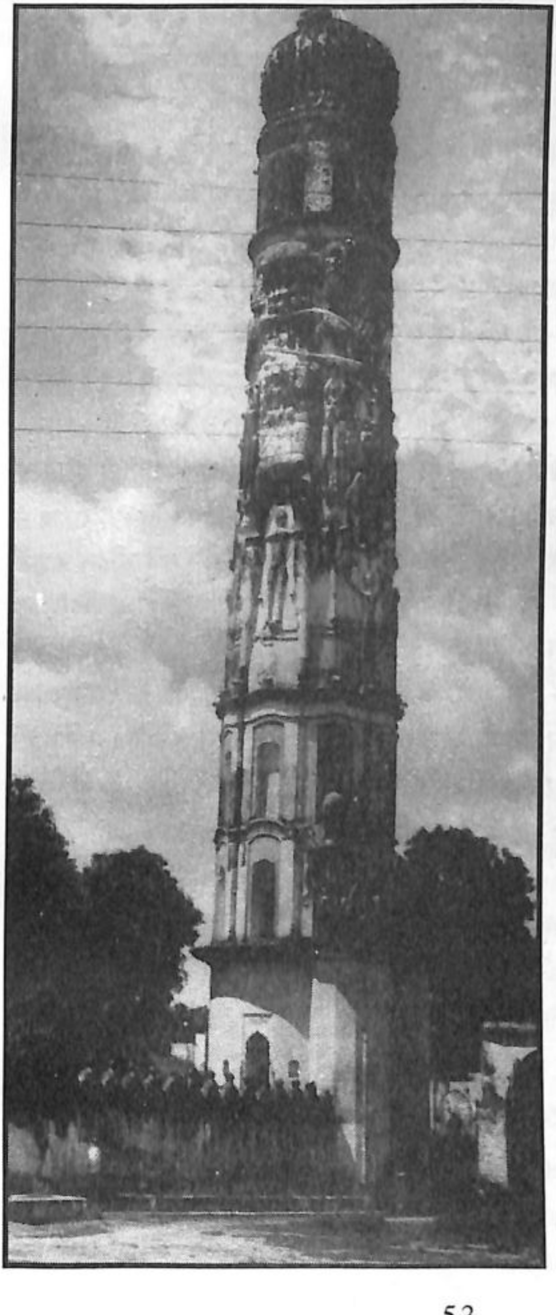

भगवान राम के देश भारत में भी उनके घोर शत्रु रावण का एक स्मारक है– 'लंका मीनार'। यह धार्मिक तथा सामाजिक सहिष्णुता का प्रतीक है। देश की ऊंची मीनारों में से एक लंका मीनार उत्तर प्रदेश राज्य के जालौन जिले के अंतर्गत कालपी नगर में वहां के प्रसिद्ध वकील बाबू मथुरा प्रसाद निगम 'लंकेश' ने एक सदी पूर्व बनवाई थी। इसकी ऊंचाई 225 फीट है जबकि कुतुब मीनार दिल्ली की 238 फीट तथा विजय स्तम्भ चित्तौड़गढ़ की ऊँचाई 122 फीट है। (देखें–हैण्डबुक ऑफ इण्डिया, प्रकाशन विभाग भारत सरकार पृष्ठ 64 तथा 49)। जिला गजेटियर 1921 के अनुसार यहां से 48 मील दूर स्थित कानपुर शहर, खुले मौसम में इस मीनार के ऊपरी भाग से दूरबीन से साफ दिखाई देता था। इसके निकट इसके निर्माता ने चित्रगुप्त मंदिर, शिवमंदिर,, शनि मंदिर, अयोध्यापुरी, जनकपुरी, पुष्पवाटिका, मथुरापुरी तथा पाताल लंका का भी निर्माण कराया था। इन सभी स्थलों पर रामलीला के जुड़े कथा–प्रसंगों पर सुंदर कौड़ी चूना से बनी मूर्तियों ने इसके कलात्मक स्वरुप को चर्चित किया है। यह मूर्तियां बुन्देली लोककला का सुंदर उदाहरण हैं।

लंका मीनार मुक्ताकाशी–मंच की परिकल्पना पर बने एक विशाल परिसर में ऊंची पीठिका पर स्थित है। जो प्राचीर से घिरी है। इस परिसर को 'लंका' कहते हैं। इसके प्रवेश द्वार पर नाग–नागिन अपने फन फैलाये छाया किये हुये हैं। दायीं ओर विशाल नाग है तथा बांयी और नागिन की लंबाई छियासठ फीट है। प्रवेश द्वार के बांयी ओर चित्रगुप्त, शनिदेव एवं भगवान शिव का मंदिर है जो दक्षिण भारतीय वास्तुशैली पर बना है। मंदिर में सत्ताइस नक्षत्रों, बारह अवतारों, चार युगों तथा सभी ग्रहों की संगमरमर की प्रतिमायें हैं। यह देश में अपने ढंग का अनौखा मंदिर है। प्रवेश द्वार की दायीं ओर एक छोर पर ऊंची लंका मीनार है। मीनार के निकट कुम्भकर्ण की लगभग 60 फीट की लंबी लेटी हुई तथा मेघनाद की बैठी हुई मुद्रा में प्रतिमायें हैं। लंका मीनार कौड़िया चूने की सुर्खी से बनवायी गयी है। इसे तैयार करने के लिये शंख, सीप, कौड़ी, चूना में गोंद, उड़द की दाल तथा गुड़ मिलाकर भलीभांति पीसकर चिपकन पैदा की जाती थी। कौड़ी तथा शंख चमक प्रदान करते हैं। इसके ऊपर घोंट करने से चमक और अधिक बढ़ती जाती है।

लंका मीनार में 173 घुमावदार सीढ़ियां है। सात खण्डों में सोपान–मार्ग से परिक्रमा पूरी करते हुये ऊपर पहुंचा जा सकता है। शिखर पर ब्रह्मा जी की सुंदर मूर्ति है। 1934 में आये भूकम्प में झटके से शिखर पर बनी पन्द्रह फुट ऊंची ब्रह्मा जी की मूर्ति छत्र सहित लटक गयी है। सृष्टि के निर्माणकर्ता ब्रह्मा 65 वर्षों से यहां यूं ही लटके हैं। वास्तुविदों के लिये यह आश्चर्यजनक है कि बिना लोहा तथा सरिया के बने इस शिखर में इतनी वजनी मूर्ति लटकने का आधार क्या है ? जो 65 वर्षों तक वायु के दबाब तथा आंधी के झोंके सहकर भी उसी स्थान पर टंगी है। एक मान्यता के अनुसार मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् आत्मा सात लोकों में भटकते हुये ब्रह्मलोक पहुंचती है। इस प्रकार लंकामीनार के सात खण्डों के ऊपर ब्रह्मा की मूर्ति एक पौराणिक प्रतीक है। लंकामीनार की बाहरी दीवाल पर चारों ओर लंकाकाण्ड के विभिन्न दृश्य मूर्तियों के माध्यम से उकेरे गये हैं। इन चित्रांकनों में राम नहीं, रावण को केन्द्रीय व्यक्तित्व के रुप में चित्रित किया गया है। लगभग अस्सी फुट ऊंची रावण प्रतिमा विभिन्न प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों से सन्नद्ध योद्धा की है। उसकी अपलक दृष्टि सामने बने शिवमंदिर में स्थित अपने आराध्य भगवान शिव को निहार रही प्रतीत होती है। लंका मीनार तथा प्राचीर पर राक्षस–राक्षसियों की अनेक मूर्तियां बनी हैं।

लंका के निकट ही अयोध्यापुरी, जनकपुरी, मथुरापुरी तथा 'पाताल–लंका' का निर्माण भी लंकेश ने कराया था। जनकवाटिका का प्रवेश द्वार अलंकरण युक्त है। इसकी प्राचीर पर भी रामकथा तथा कृष्णकथा से संबंधित लीला प्रसंग मूर्तियां के माध्यम से उकेरे गये है। अयोध्यापुरी में ही लगभग 45 मूर्तियां है। अपने आवास से थोड़ी ही दूर पर लंकेश

जी ने 'पाताल लंका' का निर्माण कराया गया था। इसे 'पलंका' भी कहते हैं। इसमें रामलीला के कलाकारों का आवास होता था। इसमें निर्मित अशोक वाटिका में हनुमान द्वारा सीता को राम की मुद्रिका देने का चित्रांकन प्रभावी बन पड़ा है। इनका रंग संयोजन सुंदर है। किन्तु वह अब मलिन पड़ रहा है।

लंका के प्रवेश द्वार पर फन फैलाये नाग–नागिन बनवाने की कथा लंकेश के जन्म से जुड़ी है। उनके परिवारीजन बताते हैं कि लंकेश जी का जन्म बावनी राज्य के ग्राम बागी में नाग पंचमी के दिन उस समय हुआ था जब उनकी मां खेत पर कृषि कार्य से गयी थीं। वहीं शिशु का जन्म हुआ। पानी बरसने लगा। तब नाग–नागिन के जोड़े ने वहां आकर फन फैलाकर उस शिशु की रक्षा की थी। बाद में यही बालक 'लंकेश' बना। इस प्रकार अपने रक्षक को महत्व देने, तथा रामकथा में शेषावतार के प्रतीक लक्ष्मण तथा उनकी पत्नी उर्मिला को प्रतीक के रुप में चित्रांकित करने में नाग–नागिन की रचना हुई। प्रत्येक वर्ष नागपंचमी को यहां मेला तथा दंगल होता है। इसके निर्माण के लिये इस अंचल के प्रमुख वास्तुशिल्पियों को बुलाकर तत्कालीन प्रसिद्ध कारीगर रहीम बक्स को निर्माण का दायित्व सौंपा गया था। उसने बीस वर्षों के कठोर परिश्रम से 1875 ई0 में इसका निर्माण प्रारम्भ करके 1895 ई0 में पूरा किया। लंकेश ने रावण की प्रतिमा के बगल में अपनी मूर्ति बनवाकर उसमें निर्माण वर्ष 1853 विक्रमीय लिखा। साथ में लिखा – लंकेश वर्ष – 1 इससे प्रतीत होता है कि लंकेश जी ने लंकेश वर्ष का प्रवर्तन करना चाहा था, किन्तु वह आगे चल नहीं सका।

भारत की जनता राम को नायक तथा रावण को खलनायक के रुप में मानती है। राम विजयी देव संस्कृति के प्रतीक हैं और रावण राक्षस संस्कृति का। देवसंस्कृति सदाचार की पोषक है, राक्षस संस्कृति अनाचार की। इसलिये देश में कोई अपना या अपने बच्चों का नाम रावण नहीं रखता है। किन्तु इस लंका मीनार के निर्माता मथुराप्रसाद निगम ने स्वयं अपना नाम 'लंकेश' रख लिया था। बाद में तत्कालीन गवर्नर ने 1904 ई में उनके परिवार के मुखिया को 'लंकेश' की पदवी प्रदान की थी। रावण के अभिनय में दक्ष 'लंकेश' स्वयं अपने को रावण का अवतार मानते थे। वह प्रतिवर्ष अपने निवास पर एक ब्रह्म भोज देते थे। उसमें पकवान या मिष्ठानों के स्थानों पर शक्कर या खोवा (मावे) के बने पशु आकार के रंगीन खिलौने – गाय, बैल, भैंस, सुअर, शेर, हाथी, घोड़े, परोसे जाते थे । पीने को सुगंधित लाल शर्बत दिया जाता था। वह कहते थे – जब लंकेश के यहां भोजन करोगे तो पशु और रक्तवर्णी पेय ही मिलेंगे। बुन्देलखण्ड के साहित्यिक अन्वेषी पं0 गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' के अनुसार लंकेश ने तीन खण्डकाव्यों की रचना की थी। इनके नाम हैं– रावण दिग्विजय यात्रा, रावण–वृन्दावन यात्रा तथा रावण–शिव स्वरोदय। इसके अतिरिक्त एक दोहावली भी लिखी थी।

रावण की कीर्ति रक्षा के लिये चिन्तित, स्वनिर्मित व्यक्तित्व के धनी एवं रईस लंकेश ने अपनी वकालत तथा जमींदारी की कमाई का एक बड़ा भाग व्यय करके इस परिसर का निर्माण कराया था। इस धनराशि का महत्व इस बात से आंका जा सकता है कि इसके निर्माण के समय पूरे कालपी परगने का सरकारी राजस्व कुल एक लाख तिहत्तर हजार इक्यावन रुपये था। जबकि लंका मीनार पर लगभग दो लाख की लागत आई थी। (देंखे मधुकर वर्ष 3 अंक–1 संपादक – पं0बनारसीदास चतुर्वेदी)। यानी पूरे कालपी राजकोष की सरकारी आय से भी ज्यादा लागत। वह भी कुतुबमीनार या विजय स्तम्भ की भांति राजकोष से नहीं लगी थी। एक छोटे कस्बे के वकील ने अपने निजी कमाई से लगायी थी। इससे इसके निर्माण की अभिनव कल्पना और उसके प्रति लंकेश जी के समर्पण का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वे मौलिक सूझ–बूझ के धनी थे। लंकेश जी कालपी की रामलीला में रावण का प्रंशंसनीय अभिनय करते थे। रावण अंगद संवाद में उनके हिन्दी तथा संस्कृत काव्य संवाद काफी चर्चित थे। उसी मंच पर मंदोदरी का अभिनय करने वाली घसीटीबाई नामक विदुषी मुस्लिम महिला लंकेश जी के जीवन से जुड़ गयी थी। इसे रामायण कण्ठस्थ थी। उसके अनुरोध पर लंकेश जी ने लंका के निकट ही 'मकदूम शाह' का मकबरा तथा उसके मरणोपरान्त उसकी स्मृति में एक मस्जिद एवं कुंए का निर्माण कराया था।

लंका देखने के उत्सुक जन कालपी सड़क या रेलमार्ग दोनों से पहुंच सकते हैं। कानपुर झांसी रेलमार्ग पर कालपी प्रमुख रेलवे स्टेशन है। यह राजमार्ग एन.एच.–25 पर स्थित है। कालपी के पूर्वी भाग में बना लंका मीनार का उत्तुंग शिखर पर्यटकों को सहज ही आकर्षित कर लेता है। बुन्देलखण्ड का प्रवेशद्वार कालपी देश में हाथ कागज

का प्रमुख उत्पादन केन्द्र है। यहां बाल व्यास मंदिर, कालपी का चंदेल दुर्ग (भग्नावशेष), वीरबल का रंगमहल, चौरासी गुम्बज, पाहूलाल मंदिर बड़ा गणेश मन्दिर आदि अन्य उल्लेखनीय दर्शनीय स्थल हैं। यमुना की ऊंची तथा सीधी कगार पर बना 'वनविश्राम गृह' प्रदेश के विशिष्ट विश्राम गृहों में है। उसके निकट ही लोक निर्माण विभाग का निरीक्षण भवन है।

देश के इस महत्वपूर्ण पुरावशेष, हिन्दू–मुस्लिम सौहार्द्र तथा सहिष्णुता के प्रतीक लंका मीनार के पर्यटकों में लोकप्रिय बनाने का योजनाबद्ध प्रयास अपेक्षित है। इसका प्रचार–प्रसार, रखरखाव तथा स्थानीय स्तर पर पर्यटक सुविधाओं का विस्तार केन्द्रीय एवं राज्य पर्यटन विभाग की चिन्ता का विषय होना ही चाहिये। इस परिवार में बनी मूर्तियों का सर्वेक्षण, अभिलेखीकरण तथा बुन्देली कला एवं शिल्प की दृष्टि से उनका विशेष अध्ययन इस विरासत के संरक्षण की दृष्टि से अति आवश्यक है।

•

सुरम्य ऐतिहासिक स्थलः बरवासागर

विश्व में अग्रणी भारतीय संस्कृति का उल्लेखनीय विकास जिन क्षेत्रों में हुआ, उनमें "मध्यदेश" का विशेष महत्व है। इसी मध्यदेश के अन्तर्गत झांसी जिले का बरवासागर है। यहां युग युगों से संस्कृति के विभिन्न अंग पोषित होते रहे हैं। प्राकृतिक सुषमा की दृष्टि से यह "बुन्देलखण्ड का कश्मीर" कहलाता है।

यह स्थान झांसी से 18 किलोमीटर दूर दक्षिण पूर्व में झांसी मऊरानीपुर मार्ग पर स्थित है। मध्यरेल झांसी–मानिकपुर शाखा पर "बरवासागर" रेलवे स्टेशन है। यहां से गुजरने वाले "बरवा" नामक नाले पर तटबन्ध बनाकर एक विशाल सरोवर महाराजा उदितसिंह ने लगभग 300 वर्ष पूर्व बनवाया था। यह "सागर" कहलाता है। इस प्रकार "बरवा" तथा "सागर" इन दो शब्दों के योग से "बरवासागर" नाम पड़ा। नगर क दक्षिणी कोने पर "कैलाशपर्वत" नामक पहाड़ी पर प्राचीन शिवमन्दिर है इसी के निकट भव्य प्राचीन दुर्ग है, जो ब्रिटिशकाल में अधिकारियों का विश्रामगृह रहा है। यहां से विशाल सरोवर, पक्की कलात्मक सीढ़ियोंदार विशालघाट तथा हरे भरे बागों से समृद्ध दृश्य अत्यन्त सुहावना लगता है।

बरवासागर वैष्णव, शैव तथा शाक्त साधना का प्रमुख स्थल होने के साथ–साथ भारतीय संस्कृति के प्रचार प्रसार का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। इसकी दो कोस परिधि में ऐसे अनेक स्थल हैं जो इसके सांस्कृतिक वैभव के साक्षी हैं। प्राचीन इतिहास में वर्णित तुंगारण्य तथा बेत्रवती नदी यहां से छह किलोमीटर दूर है।

प्राचीनकाल में संस्कृति प्रचार प्रसार हेतु मठों की स्थापना की जाती थी। यह मठ, धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य वाणिज्य तथा सामाजिक समृद्धि हेतु नियोजित कार्य करते थे। इसके अन्तर्गत विभिन्न मतावलम्बियां के साधनास्थल तथा मंदिर बनाये जाते थे। इस दृष्टि से बरवासागर का सांस्कृतिक अनुशीलन स्वतन्त्र शोध का विषय है। यह तथ्य विशेष महत्वपूर्ण हैं कि बरवासागर के पूर्व में "घुघुवामठ" तथा पश्चिम में "जरायमठ" नामक दो चन्देलकालीन मठों का उल्लेख मिलता है। इनके पुरातत्वीय अवशेष अभी भी विद्यमान हैं।

"घुघुवा–मठ" का नामकरण बरवासागर के पूर्व में स्थित ग्राम घुघुवा ग्राम पर हुआ। सम्भवतः इसका विस्तार घुघुवा ग्राम से वर्तमान स्वर्गाश्रम तथा सरोवर के ऊपरी टीले पर स्थित लक्ष्मणशाला मन्दिर तक था। घुघुवा ग्राम से लक्ष्मणशाला तक अनेक स्थानों पर अलंकृत शिलाखण्ड पड़े हैं। वे यहां विशाल मठ की मूक गाथा कहते हैं। यहां ग्रेनाइट पत्थर से निर्मित दो विशाल मन्दिर थे। इनका निर्माण चन्देल काल में हुआ था। इनमें गणेश तथा दुर्गा जी की मूर्तियां प्रतिष्ठित थीं। अब वहां कोई मूर्ति नहीं है। अधिकांश ग्रामवासी मठ की प्राचीनता अथवा उसके विस्तृत विवरण से अनभिज्ञ हैं।

इस मठ के अलंकृत स्तम्भों तथा प्रस्तरखण्डों का उपयोग सरोवर की कलात्मक

सीढ़ियों तथा लक्ष्मणशाला की प्राचीर में यत्र तत्र किया गया है। इस पुरातत्वीय स्थल पर लोक निर्माण विभाग ने एक सुन्दर निरीक्षण भवन बना दिया है।

बरवासागर से पांच किलोमीटर पश्चिम में, सड़क किनारे एक टीले पर शिखर शैली का मन्दिर बना है। इसे "जरायमठ" कहते हैं। "जराय" शब्द जड़ाऊ अथवा पच्चीकारी के लिये प्रयुक्त होता है। इसके अलंकृत होने के कारण सम्भवतः इसका नामकरण "जरायमठ" किया गया होगा। निकटवर्ती ग्रामवासी इसे जरायमाता की मठिया भी कहते हैं। किन्तु इस मन्दिर में कोई विग्रह नहीं है। उसके आस–पास भी अलंकृत शिलाखण्ड मिलने से इसके विस्तृत होने का अनुमान है।

पुरातत्व वेत्ता प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी इसे शिव–पार्वती का चन्देलकालीन मन्दिर मानते हैं जबकि झांसी संग्रहालय के पूर्व निदेशक डा० एस० डी० त्रिवेदी के अनुसार यह देवी मन्दिर था। वे इसे प्रतीहारकालीन मूर्तिकला का उत्कृष्ट मन्दिर मानते हैं। प्रतीहारकाल के तुरन्त पश्चात् चन्देलकाल आता है, अतः काल दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु देव दृष्टि से अनेक मत हैं। अनेक ग्रामवासी प्राचीन परम्परा से इसे सूर्य मन्दिर मानते हैं। कुछ दिनों पूर्व तक सरोवर के निकट एक सूर्य प्रतिमा थी। सम्भव है वह यहां से ले जाई गई होगी। बुन्देलखण्ड में सूर्य पूजा काफी प्रचलित रही है। यहां उनाव बालाजी, कालप्रियनाथ कालपी, मड़खेरा तथा महोबा में प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर रहे हैं, अतः यहां भी सूर्य मन्दिर की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता है।

जराय मठ पंचायतन शैली पर बनाया गया है। इस शैली के अन्तर्गत केन्द्रीय मन्दिर के बाहर चारों कोनों पर चार मन्दिर बनाये जाते हैं। यहां दक्षिण की ओर दो कोनों पर उपमन्दिर अभी शेष हैं। किन्तु शेष दो नष्ट हो गये हैं। मुख्य मन्दिर पूर्वाभिमुखी है। इसके गर्भगृह के आगे खुला मन्दिर था। यह नष्ट हो गया है। गर्भगृह के ऊपर शिखर शैली की क्षिप्त–वितान का सुन्दर संयोजन है। मन्दिर की बाहरी दीवारों का अलंकरण मूर्तियां उकेरकर किया गया है। यह ऊपर से जटिल प्रतीत होते हैं। पूर्व की ओर बना द्वार पूर्णरुपेण अलंकृत है। नीचे की पंक्ति में अष्ट दिक्पाल उत्कीर्ण है। द्वार पर दोनों ओर मच्छप तथा कच्छप पर आरूढ़ गंगा और यमुना की मूर्तियां हैं। मन्दिर के ऊपरी भाग में पद्म नीचे की ओर कलश तथा पार्श्व में मिथुन मूर्तियां अंकित हैं। अधिकांश मूर्तियां खण्डित हैं।

इस मन्दिर से लगभग दो किलोमीटर दूर "बनगवां" में चन्देलकालीन मन्दिरों के अवशेष, अलंकृत शिलाखण्ड तथा शिवलिंग मिलते हैं। यहां प्राचीन वापी भी है।

बरवासागर रेलवे स्टेशन के समीप सिसोनिया गांव के अन्तर्गत ऊंची पहाड़ी पर "तारामाई" का प्राचीन मन्दिर है। इस तक पहुंचने के लिये छह सौ सीढ़ियां है। मान्यता है कि यह देवी पुराण में वर्णित तारादेवी की सिद्धपीठ है। किवदंतियों के अनुसार देवी के सती होने पर उनके अंग जिन–जिन स्थानों पर गिरे, वहां सिद्धपीठों की स्थापना हुई। यह भी उनमें से एक है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि चन्देलकाल तक इस अंचल में स्थापत्य तथा मूर्तिशिल्प का पर्याप्त विकास हो चुका था। यह क्षेत्र कला एवं संस्कृति के साधकों का

महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है।

लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व महाराजा उदित सिंह द्वारा बनवाये गये अनेक मन्दिर यहां वैष्णव संस्कृति के समुचित संरक्षण का संकेत देते हैं। इस काल के मंदिरों में किले के निकट लक्ष्मी मन्दिर, बाजार में चतुर्भुज जी का मन्दिर, रघुनाथ मन्दिर तथा भाऊ मन्दिर उल्लेखनीय है। इन सबकी निर्माण शैली लगभग समान है। इन सभी मंदिरों में काली कसौटी के विग्रह प्रतिष्ठित हैं।

वर्तमान में बरवासागर का सर्वाधिक रमणीय एवं सांस्कृतिक स्थल स्वर्गाश्रम है। झांसी– मऊरानीपुर मुख्य मार्ग पर नगर से लगभग तीन किलोमीटर दूर सरोवर के नीचे की ओर इसका विशाल कलात्मक एवं आकर्षक प्रवेश द्वार दर्शकों को बांध लेता है। आश्रम की प्राचीर सा दिखता सरोवर का विशाल तटबन्ध, बड़े बड़े सीढ़ीदार पक्के घाट, हरे भरे दृश्यों की छांव, लता वल्लरियां, प्राचीन वटवृक्ष तथा शिवमंदिर के बीच प्रवाहित होने वाला गुप्तेश्वर–प्रपात उसके दांयी ओर कलरव करता एक और प्रपात, जलकुण्डों का सौन्दर्य और कहीं ऊबड़ खाबड़ पड़े शिलाखण्डों में झांकता नैसर्गिक वैभव दर्शकों का मन मोह लेते हैं। विभिन्न प्रकार के पुष्पों से वातावरण सुरभित है।

सन् 1950 ई0 मे दण्डी स्वामी शरणानन्द सरस्वती ने इसे अपना साधना केन्द्र बनाकर इसे विकसित किया था। उनकी प्रेरणा से श्रंगीऋषि समाज ने श्रंगीऋषि मन्दिर तथा अन्य श्रद्धालु भक्तों ने दुर्गा मन्दिर, वेद मन्दिर, शिवमन्दिर, यज्ञशाला, गौशाला, प्रवचन–भवन, संस्कृत विद्यालय भवन, प्राकृतिक चिकित्सा भवन तथा संत विश्राम कक्षों का निर्माण कराया था। यज्ञ तथा प्रचवचन यहां की परम्परा बन गये हैं। तब इस आश्रय परिसर में वेदों की ऋचायें सामवेद के गान और संतों के प्रवचनों की ओजमय वाणी गूंजती थी। सन् 1982 में स्वामी जी के देहावसान के पश्चात् अनेक वर्षों तक यहां आध्यात्मिक चेतना तिरोहित हो गई थी। नगरवासियों ने पुनः स्वामी जगद्गुरु को यहां लाकर उनके द्वारा आश्रम का निर्देशन कराने तथा इसके पूर्व वैभव को प्रतिष्ठित करके यहां की प्राकृतिक सुषमा, आध्यात्मिक चेतना तथा मानव सेवा की त्रिवेणी प्रवाहमान बनाये रखने का सराहनीय कार्य किया है।

बरवासागर को 'बुन्देलखण्ड का कश्मीर' मानने का कारण यह है कि यहां लगभग दस वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तृत सरोवर तथा दर्जनों बागों की मनभावन हरीतिमा है। इनमें अमराई बाग, कम्पनी बाग, गोमटा बाग, राजबाग तथा गणेश बाग प्रमुख हैं सरोवर से निकाली गई नहरें तथा कल कल करती पक्की नालियों से प्रवाहित जलधारा से सिंचाई आश्वस्त है। इससे इस नगर में शाक भाजी, फल एवं फूलों के प्रमुख उत्पादन केन्द्रों में गिना जाता है। यहां से इन उत्पादों का लगभग पचास ट्रक प्रतिदिन का लदान है।

इस प्रकार बरवासागर सांस्कृतिक चेतना एवं हरितक्रान्ति का महत्वपूर्ण केन्द्र है।

•

माहिल : दुर्ग तथा तालाब

प्राचीन राजकीय अभिलेखों के अनुसार उरई नगर के आवासीय क्षेत्र वाले टीले के दक्षिण में सड़क के उस पार एक तालाब तथा प्राचीन दुर्ग के अवशेष पाये जाते हैं। एक ऊँचे टीले पर स्थित यह दुर्ग ही माहिल का दुर्ग था जिसके उत्तर में एक सुन्दर तालाब था। इस दुर्ग के अंदर तालाब की ओर एक गुम्बदनुमा शिवमन्दिर है। जो अलंकृत पत्थरों की ऊँची पीठिका पर बना है। जनश्रुति के अनुसार इस मंदिर से प्रारम्भ होकर महोबा तक एक भूमिगत सुरंग थी। अनेक बुजुर्गों ने बताया कि वे कुछ दूरी तक इस भूमिगत मार्ग में गये थे किन्तु अंधकार, सीलन, चिमगादड़ों के शोर शराबा तथा विषैली गैसों की दुर्गन्ध से थोड़ा घुसकर ही वापिस लौट आये। बाद में इसका सुरंग द्वार बन्द कर दिया गया। नगर के अनेक वरिष्ठजनों ने इस दुर्ग के चार बुर्ज अपनी आँखों देखे हैं। इस में एक, दक्षिण पश्चिम बुर्ज (डी0वी0 कालेज द्वार के निकट) अभी भी शेष है। इसके ऊपर डी0वी0सी0 छात्रसंघ के पूर्व अध्यक्ष किशोरी शरण शाण्डिल ने, अपने अध्यक्षीय कार्यकाल में माहिल पुत्र वीर अभई की अश्वारूढ प्रतिमा स्थापित कराई है। पश्चिमी उत्तरी कोने का बुर्ज नीलम लाज–राजमार्ग चौराहे के मोड़ पर था। जहाँ अब नवकेतन फोटो स्टूडियो है। एक बुर्ज वर्तमान लक्ष्मीनारायण मंदिर के उत्तर पूर्वी कोने पर हाड़ा सिंह होटल के सामने था तथा एक बुर्ज रामलीला मैदान के आगे कुम्हार के मकान के निकट बम्बी रोड के प्रांरभ बिन्दु पर था। यहीं मौखरी माइनर से निकलने वाली 'तालाब–गूल' तालाब में मिलती थी, जिससे यह तालाब भरा जाता था। इसके अतिरिक्त अन्य बुर्ज भी रहे होगें। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि वर्तमान तालाब, माहिल दुर्ग का ही एक भाग था। इसका उत्तरी घाट नागरिकों के उपयोगार्थ पक्का बनाया गया था। माहिल दुर्ग का भाग होने के कारण यह माहिल तालाब नाम से विख्यात हुआ। दुर्ग के मुख्य भाग में आर्यकन्या इण्टर कालेज, डी0वी0 कालेज तथा डी0ए0वी0 इण्टर कालेज एवं कुछ आवास आदि बन गये हैं।

जनश्रुतियों के अनुसार तालाब दो कोस में फैला था। जिला गजेटियर (1989 पृष्ट 300) के अनुसार इसका क्षेत्र फल 1.2 हैक्टेयर यानी लगभग साढ़े सात बीघा था। इसकी सही सीमा का अधिकृत निर्धारण नहीं हो सका है। किन्तु कलक्ट्रेट में उपलब्ध सन 1896 के एक मानचित्र के अनुसार इसकी पूर्वी सीमा खेतों (हार) तक जाती थी। उत्तर की ओर कुछ पक्के घाट थे, जो नागरिकों के पेयजल एवं स्नानादि हेतु प्रयोग में आते थे। गजेटियरकार के अनुसार निरंतर पानी भरा रहता था। यहाँ तक कि भीषण गर्मी के मौसम में भी जल मिलता था। पक्का पश्चिमी घाट राजमहल तथा देवालयों से जुड़ा था। दक्षिणी घाट किले से सटा हुआ था। संभव है, कभी यहाँ प्राचीर भी रही हो। पूर्वी भाग कच्चा खुला हुआ खेतों तक जाता था। प्रत्यक्षतः इससे पशुओं के पीने तथा सिंचाई की व्यवस्था होती होगी। जब मैं 1959 के लगभग प्रथम बार उरई आया था, तब कुछ बुजुर्गों ने मुझे बताया था कि उन्होंने इस तालाब में कमल फूलते देखे थे।

जिला गजेटियर (1921 पृष्ठ 184) के अनुसार यहाँ इस तालाब के निकट

बहुतायत में ग्रेनाइट पत्थर के अलंकृत शिलाखण्ड विखरे पड़े रहते थे। इनमें स्तम्भों तथा देहरी–द्वार पट्टिकाओं का बाहुल्य था।

यहां चंदेलकालीन मन्दिर स्थापत्य का अलंकरण युक्त वैभव देखने को मिलता है। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि यह अलंकृत ग्रेनाइट पत्थर यहाँ किसी चन्देल कालीन मंदिर के अंग–उपांग रहे होंगे। संभवतः यह तालाब किसी चन्देल शासक ने नहीं बनवाया इसलिये इसके वर्णन चन्देल शिलालेखों अथवा ताम्रपत्र में मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता हैं तथापि परिस्थितिगत साक्ष्य इसे चन्देल कालीन होने का संकेत देते हैं।

जहाँ तक तालाब के उत्तरी पूर्वी कोने पर स्थित लक्ष्मीनारायण मन्दिर का प्रश्न है, वह मरहठा कालीन शिल्प है। उसकी व्यवस्था भी एक महाराष्ट्रियन आठले परिवार द्वारा की जाती है। चन्देलकालीन मंदिरों की भाँति ऊँची पीठिका पर स्थित होने के कारण, पूर्व में कभी इसी स्थान पर चन्देलकालीन मन्दिर होने तथा उसी स्थान पर वर्तमान मन्दिर पुनर्निर्मित किये जाने की कल्पना की जा सकती है। किन्तु चन्देलकालीन अधिकांश मन्दिरों की पीठिकायें पत्थर की होती थीं। इसके विपरीत यह पीठिका ईंट चूने से बनी है। मन्दिर के बाहर, निकट ही, एक पथिकशाला (सराँय) होने के सूत्र मिलते हैं। मन्दिर के पश्चिम की ओर 'हाथी खाना गोविन्द राव' था। इससे यह संकेत मिलता है कि यह जालौन के मरहठा शासक गोविन्दराव द्वारा संरक्षित रहा है तथा वह दर्शनार्थ यहां आते रहे होंगे।

इस तालाब के उत्तर की ओर, सड़क पार, ऊँचे टीले पर उरई का जन–आवासीय क्षेत्र था। इससे यह कल्पना करना सहज ही है कि तालाब चारों ओर ऊँचे टीलों से घिरा प्राकृतिक कटोरे की भाँति मनोरम रहा। इस आवासीय ऊँचे टीले का विस्तार पश्चिम तथा उत्तर में नाले तक जाता था। पश्चिमोत्तर कोने (वर्तमान तिलक नगर) में मंसिल माता के मन्दिर से भारी मात्रा में चन्देल कालीन मूर्तियाँ मिलने से वहाँ चन्देलकालीन मंदिर होने के संकेत मिले हैं। इस मंदिर क्षेत्र में नृसिंह, वाराह तथा यक्ष प्रतिमाओं के अतिरिक्त अतिभंगी मुद्रा में भगवान विष्णु की एक सुन्दर किन्तु खण्डित प्रतिमा मिली है। ऐसा प्रतीत होता है। कि चन्देलकालीन तथा छत्रसालकालीन युद्धों में उरई की आबादी नष्ट होकर उंन्नीसवीं सदी में एक गाँव जैसी रह गई थी। तभी गजेटियर में इसका उल्लेख गाँव के रूप में मिलता है। 1840 ई0 में जब कैप्टेन डूलन ने उरई को जिले का मुख्यालय बनाने के लिये चुना तब यहाँ तहसीलीय नगरों में सबसे कम आबादी थी। 1865 में 6461 की आबादी थी जो 1901 में बढ़कर 8458 हो गई थी। उसमें 5980 हिन्दु, 2374 मुसलमान, 61 ईसाई 11 जैन तथा 32 अन्य धर्मवलम्बी थे। कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकलता है कि माहिल तालाब उरई आबाद होने से वर्तमान काल तक उरई की शोभा तथा जीवनाध ाार (पानी की आपूर्ति के कारण) रहा है। सौ दिवसीय ऐतिहासिक श्रमदान द्वारा इसकी सफाई जनता द्वारा किए जाने के बाद अब इसका सुन्दरीकरण प्राचीर बनाकर तथा ग्रिल लगाकर कर दिया गया है। पर्यटन विभाग तथा वनंविभाग के संयुक्त प्रयास से इसे सुरम्य पर्यटक स्थल के रूप में किया जा रहा है।

•

भगवान वेदव्यास

व्यास मंदिर काल्पी में
प्रतिष्ठित भगवान वेदव्यास की मूर्ति

भारतीय-ज्ञान गंगा के भगीरथ, भारतीय संस्कृति के व्याख्याता तथा पुराणों के रचयिता भगवान वेदव्यास के नाम से हम सभी परिचित हैं भारतीय मनीषियों के अनुसार व्यास जी भगवान का अवतार हैं। श्रीपाद् मध्वाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में 'भगवान्नोरायणों व्यासरुपेणावतार' कहकर उन्हें नारायण का अवतार माना है। इसीलिये उन्हें भगवान कहते हैं।

भारतीय मान्यताओं के अनुसार वे प्रत्येक द्वापर में जन्म लेकर वेदों का संकलन, संपादन और विभाजन करते हैं। वेदों के इस व्यसन के कारण उन्हें वेदव्यास या संक्षेप में व्यास कहते हैं। वह वेद पुराण महाभारत तथा ब्रह्मसूत्र का प्रणयन कर भारतीय ज्ञान विज्ञान शास्त्र और कलाओं की गंगा प्रवाहित कर मानव जाति को विचार अमृत देते हैं तथा मानव धर्म के इस आधारसूत्र की रचना करते हैं कि -

"अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं,
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।"

अर्थात् दूसरों का उपकार करना ही सबसे बड़ा पुण्य हैं तथा दूसरों को कष्ट देना ही सबसे बड़ा पाप है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सबका हित करना ही जीवन धर्म है। यही व्यास का चिन्तन और शाश्वत संदेश है।

यह संदेश निरुपित करने वाले भगवान व्यास कोई एक व्यक्ति नहीं हैं। वे एक शाश्वत परंम्परा के संवाहक हैं। जो भारतीय वाड़.मय का सृजन करके भारतीय संस्कृति के अखण्ड प्रवाह को युग युगांतर से अक्षुण्य बनाये हुये है।

भारतीय लोक-मानस में जो अजर-अमर सात व्यक्तित्व गिनाये गये हैं व्यास उनमें से एक है।

"अश्वत्थामा बलिर्व्यासो, हनुमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च, सप्तैते चिरजीविनः।।"

भारतीय काल गणना के क्रम में प्रत्येक कल्प के प्रत्येक म्रन्वंतर के प्रत्येक द्वापर युग में

प्राचीन व्यास स्मारक

एक व्यास होता है। आजकल श्वेतवाराह कल्प का सातवां मन्वन्तर चल रहा है। इसका नाम वैवस्त मन्वंतर है। इस समय इस मन्वंतर का अट्ठाइसवां कलियुग चल रहा है। इस प्रकार इस मन्वन्तर में अब तक अट्ठाइस व्यास हो चुके हैं। इनमें प्रत्येक व्यास का एक विशेष नाम होता है। आजकल जो व्यास हैं उनका नाम 'कृष्ण द्वैपायन व्यास' हैं वे अट्ठाइसवें व्यास हैं अब जो व्यास जन्म लेंगे वह उन्तीसवें व्यास होंगे तथा उनका नाम अश्वत्थामा व्यास होगा। वैवस्वत मन्वंतर के अट्ठाइस व्यासों के नाम निम्नांकित हैं-

(१) ब्रह्मा (२)प्रजापति (३)शुक्राचार्य (४) ब्रहस्पति (५) सूर्य (६) यम (७) इन्द्र (मघवा) (८) वशिष्ठ (६) सारस्वत (१०) त्रिधामा (११) त्रिवृष या त्रिशिख (१२) भारद्वाज (१३) अंतरिक्ष (१४) धर्म या वर्णी (१५) ऋश्यारुणि (१६) धनंजय (१७) मेधातिथि (१८)व्रती या जय (१६) अत्रि (२०) गौतम (२१) हर्यात्मा (२२) बाजश्रवा (२३) सामशुष्मायण तृणबिन्दु (२४) भार्गव (२५) शक्ति (२६) पराशर (२७) जातुकर्ष्य तथा (२८) कृष्णद्वैपायन

हम यहां पिछले द्वापर में जन्मे कृष्ण द्वैपायन व्यास की चर्चा कर रहे हैं। वे श्यामवर्णी (कृष्ण) द्वीप पर जन्मे (द्वैपायन) तथा व्यास परंपरा में होने के कारण कृष्ण द्वैपायन व्यास कहलाये। इनका जन्म आषाढ़ माह की पूर्णिमा की होने के कारण इस पूर्णिमा को व्यास–पूर्णिमा भी कहते हैं।

इनके जन्मस्थान को लेकर मत–मतांतर हैं। कुछ लोग उनका जन्म गंगा नदी तथा कुछ लोग यमुना नदी के किनारे मानते हैं। उनके आश्रम या कार्यस्थल अनेक हो सकते हैं तदनुसार बस्तियों या नदियों के घाट भी हो सकते हैं किन्तु जन्मस्थान एक ही जगह हो सकता है। अंतर्साक्ष्य को आधार मानकर देवी भागवत तथा शिवपुराण में उनका जन्म कालिन्दी तट पर होना बताया गया है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार इनका जन्म यमुना तथा व्यास–सरिता के संगम के निकट एक द्वीप पर होने का उल्लेख हैं। यह उत्तर प्रदेश राज्य में कालपी के निकट है।

ब्रह्माण्डपुराण में वर्णित एक कथा से उद्धृत 'कालपी महात्म्य' नाम एक ग्रंथ प्राप्त हुआ है। इस ग्रंथ की लगभग चार सौ वर्ष पुरानी एक प्रति हिन्दीभवन कालपी में सुरक्षित है। इसके अनुसार पृथ्वी पर भोग तथा मोक्ष देने वाली सात नगरियां, तीन ग्राम, नौ वन तथा नौ ऊषर रहे हैं। इनमें एक उत्तमकाल ऊसर क्षेत्र है, जो व्यासक्षेत्र के नाम से जाना जाता है। यह कालपी नगर के निकट स्थित है। यह चार योजन लंबा, दो योजन चौड़ा,

तथा मुनिजनों से पूरित है। इस क्षेत्र में ऋषि व्यास, वाल्मीकि, पराशर, कर्दम, क्षेमोक, च्यवन तथा जमदग्नि के आश्रम रहे है। यहां से लगभग 20 किलोमीटर दूर ग्राम पराशन में ऋषि पराशर का आश्रम था। यह ऋषि पराशर ही कृष्ण द्वैपायन व्यास के जनक थे। इनके आश्रम में कालान्तर में मरहठा शासकों ने पराशर मंदिर का निर्माण कराया था।

उक्त पौराणिक सन्दर्भों के आलोक में इनका जन्म स्थान कालपी के निकट यमुना–जोंधर (व्यास गंगा) के संगम पर परंपरा से माना जा रहा है। सुप्रसिद्ध विद्वान कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने इनका जन्मस्थान कालपी के इसी व्यास क्षेत्र में माना है।

व्यास क्षेत्र में धीवर तथा केवटों की सघन बस्तियां हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्व पुरातत्व अधिकारी प्रोफेसर कृष्णदत्त बाजपेयी के अनुसार प्राचीन मत्स्यगंधापुर नाम नगर वर्तमान कालपी के उत्तर पश्चिम में इसी व्यासक्षेत्र में था। इसे अब मदारपुर कहते हैं। यहां जमुना नदी में जौंधर नामक एक नाला मिलता है। इस नाले का प्राचीन नाम व्यास गंगा है। यमुना–जौंधर संगम के बीच पहले एक द्वीप था। इस द्वीप के निकट के बरसात में यमुना का प्रवाह तेज एवं वेगवान हो जाता है। जिससे द्वीप का भाग कटते कटते अब टीलामात्र शेष रह गया है। इसे 'व्यासटीला' कहते हैं। इस टीले के ठीक पीछे केवट जाति के ही परिवार रहते हैं।

लोक श्रुतियों तथा पुराणवर्णित कथा के अनुसार ऐसे ही द्वीप पर ऋषि पराशर तीर्थ यात्रा पर जाते समय, यमुना नदी पर पार कराने के लिये यमुना में नौका खेने वाली केवट–कन्या सुन्दर नेत्रों वाली, सत्यवती पर मुग्ध होकर कामार्त हो गये थे। मत्स्य के पेट से, राजा उपरिचर के वीर्य से जन्मी उक्त कन्या की देह से मत्स्य की गंध आने के कारण उसे मत्स्यगंधा कहते थे। ज्यों ही ऋषि पराशर ने कामार्त होकर उसका दाहिना हाथ पकड़ा उसकी देह से कस्तूरी गंध योजन तक फैल गयी। उसका नाम योजनगंधा हो गया। लोकलाज के भय से सत्यवती ने ऋषि से एकान्त में चलने का आग्रह किया। इस पर ऋषि पराशर के संसर्ग से सत्यवती गर्भवती हुई तथा उससे उसी टीले पर जन्मा बालक कृष्ण द्वैपायन व्यास हुआ।

प्राचीन काल में इसी व्यासटीला पर भगवान वेद व्यास का एक मंदिर था, जो नष्ट हो गया है। उक्त मंदिर के भग्नावशेषों के यत्र–तत्र बिखरे पाषाण खण्ड एवं मूर्तियां लगभग एक हजार वर्ष पुरानी प्रतीत होती हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् मुख्यमंत्री संपूर्णानन्द के प्रयास से 30 जनवरी 1953 ई0 को तत्कालीन राज्यपाल महामहिम कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने व्यास स्मारक का शिलान्यास किया जहां व्यास–मंदिर बना। इसका निर्माण स्थानीय संस्था श्री हिन्दी विद्यार्थी संप्रदाय की एक उपसमिति ने कराया था।

इसी मंदिर के निकट लगभग 22 एकड़ भूमि वेदव्यास ट्रस्ट एवं काशी मठ संस्थान हरिद्वार ने अर्जित करके काशी मठाधीश्वर सुधीन्द्र तीर्थ सरस्वती की प्रेरणा से वहां

काशीमठ कालपी का निर्माण कराया एवं अतिथि भवन है। भव्य बाल वेद व्यास–मंदिर का निर्माण इसी स्थल पर कराया गया है। कई करोड़ रुपये की लागत से हुए मठ एवं मंदिर का निर्माण एक स्वतंत्र आलेख का विषय है।

लोकमान्यता है कि इसी टीले पर भगवान व्यास ने अपना आश्रम बनाया तथा वेदों का संकलन, संपादन, विस्तार तथा प्रसार किया, साथ ही ब्रह्मसूत्र, अठारह पुराण, महाभारत आदि ग्रंथों की रचना की।

कृष्ण द्वैपायन व्यास के पूर्व केवल एक वेद अथर्ववेद था। शेष मंत्र और ऋचायें यत्र–तत्र ऋषियों मुनियों के कंठों में सुरक्षित थी। व्यास जी को चिंता हुई कि यह विशाल सांस्कृतिक–निधि नष्ट न हो जाये, अतः इसका संहिताकरण किया जावे। उन्होंने वेद को चार विभागों में विभक्त करके मंत्रों तथा ऋचाओं का संकलन करने के लिये आसेतु हिमालय यात्रायें की। अपने चार प्रमुख शिष्यों पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को विभाजन समझाया तथा उन्हें क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद एवं अथर्ववेद संकलन का कार्य सौंपा। इस प्रकार उन्होंने वेदों का नियोजन और विस्तार किया तथा वेदों का वर्तमान स्वरुप सामने आया।

बाल व्यास मंदिर

व्यास जी महाभारत युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी और लेखक ही नहीं, उसके एक पात्र और नायक भी थे। वे कौरवों तथा पाण्डवों के पिता क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु के जनक भी थे। जब हस्तिनापुर नरेश शान्तनु के पुत्र चित्रांगद तथा विचित्रवीर्य का निधन हो गया तथा उनके पुत्र देवव्रत भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुपालन में विवाह करने से मना कर दिया तब प्रश्न उठा कि शान्तनु का वंश आगे कैसे चले ? इन्हीं शान्तनु की पत्नी सत्यवती ने ही कौमार्य में पराशर के संसर्ग से व्यास को जन्म दिया था, चित्रांगद और विचित्रवीर्य की पत्नियां (काशिराज की पुत्रियां) अंबिका और अंबालिका वैधव्य भोग रही थी। तब शान्तनु–पत्नी सत्यवती ने अपने पुत्र व्यास से अनुरोध किया कि वे वंश चलायें तथा नियोग द्वारा अंबिका और अंबालिका के सन्तान पैदा करें। मुनि व्यास मां को पूर्व में दिये एक वचन के कारण यह आग्रह न टाल सके। तदनन्तर अंबिका से धृतराष्ट्र और अंबालिका से पाण्डु का जन्म हुआ।

इस प्रकार व्यास ने अपनी मां की आज्ञा का निर्वाह करके शान्तनु के वंश की रक्षा की तथा महाभारत के पुराण–पुरुष बने। जब कौरवों तथा पाण्डवों में युद्ध की स्थिति बनी तब उन्होंने गृह कलह टालने का परामर्श दिया, किन्तु वह नहीं रुक सका। महाभारत युद्ध के पश्चात् तीन वर्ष श्रम करके व्यास ने सारे तथ्यों को संकलित करके महाभारत काव्य की रचना की।

महाभारत की रचना करते समय एक समस्या सामने आई कि विशाल वाड्.मय को किसके सुलेख से लिखवाया जावे। गणेश जी की लेखनी अति तीव्र तथा सुलेख के लिये विख्यात थी। जब उनके सामने व्यास रचित महाभारत के लेखन का प्रस्ताव आया तो गणेश जी ने एक शर्त रक्खी कि वे अपनी लेखनी को बिना विश्राम दिये एक बार में ही लिखेंगे। व्यास जी शीघ्रता में श्लोक रचकर बोलें। 'यदि कहीं लेखन रुक गई तो लिखना बंद कर देंगे।' यह भगवान व्यास की विद्वत्ता की परीक्षा थी कि इतने विशाल ग्रंथ को सोच विचारकर श्लोक रचकर धाराप्रवाह बोला जावे। आश्रम के निवासियों में जिज्ञासा थी कि व्यास जी जल्दी श्लोक रचकर बोलते हैं या गणेश जी जल्दी लिखते हैं। व्यास जी जानते थे कि गणेश जी की तीव्रगामी लेखनी के सामने वह बाजी हार सकते हैं। उन्होंने भी गणेश जी के सामने एक शर्त रक्खी कि गणेश जी श्लोक लिखने के पूर्व उसका अर्थ समझ कर ही लिखें। गणेश जी ने यह शर्त स्वीकार कर ली। जब व्यास जी देखते थे कि गणेश जी अति तीव्र गति से लिख रहे हैं तो वे बीच में एक कठिन श्लोक बोल देते थे। जब तक गणेश जी उसका अर्थ लगाते थे तब तक व्यास जी अनेक श्लोक रचकर बोलते जाते थे। इन कठिन श्लोकों को 'कूट–श्लोक' कहा गया। इस प्रकार महाभारत की रचना हुई।

इस प्रकार महाभारत तथा पुराणों की रचना करके व्यास ने अपने शिष्य सूत जी (लोमहर्षण) को इनका अध्ययन कराया तथा नैमिषारण्य में इनका प्रचार प्रसार करने का उन्हें माध्यम बनाया। जिससे वहां के अस्सी हजार ऋषियों मुनियों द्वारा इन ग्रंथों का पूरे देश में प्रचार हुआ।

इस प्रकार व्यास सच्चे अर्थों में संस्कृति के मूल विचारक तथा व्याख्याता थे। उनका चिंतन और सृजन सर्वथा मौलिक था। उन्होंने अनेक शास्त्रों ज्ञान, विज्ञान, कलाओं की कल्पना करके उनको अपने मौलिक चिंतन द्वारा अपने ग्रंथों में ग्रंथित किया। पूर्ववती परंपरा से कुछ नहीं लिया अपितु परवर्ती परंपरा के प्रेरण स्त्रोत बने। ज्ञान की इस महान संचित राशि का शिल्पगत एवं वस्तुगत वैविध्य व्यास जी की विद्वत्ता का परिचायक तो है ही, 'न भूतो न भविष्यति' को भी सार्थक करता है। वह सच्चे अर्थों में भारत की सारस्वत परंपरा के सर्वोच्च प्रतीक हैं।

•

बुन्देलखण्ड के सर्वाधिक मान्यलोकदेवता हैं- लाला हरदौल। प्रत्येक गांव या नगर में उनके नाम पर एक चबूतरा होता है। वही उनका पूजास्थल या मान्यता केन्द्र होता है। उनकी कोई प्रतिमा नहीं होती। वह श्रद्धा के केन्द्र हैं। इतनी व्यापकता के साथ सुदूर गांव गांव तक पूज्य यह लोकदेवता हरदौल- एक मनुष्य से उठकर लोकदेवता के रूप में प्रतिष्ठित कैसे हुए ? उसकी पूजा किन-किन अवसरों पर और क्यों होती है ? इसकी एक रोचक कथा है -

ओरछा राजवंश के दीवान जुझार सिंह के अनुज थे-लाला हरदौल। भाई जुझार सिंह और भाभी का अपार स्नेह उन्हें प्राप्त था। भाभी निःसन्तान थीं तथा हरदौल से सात्विक स्नेह करती थीं। हरदौल भी अपना अधिकांश खाली समय महल में ही बिताते थे। उनसे ईर्ष्या तथा द्वेष रखने वाले कुछ प्रतिस्पर्द्धियों जुझार सिंह को यह समझाने की कुचेष्टा की कि हरदौल का महलों में अधिक रहना रानी के प्रति जनता के मन में सन्देह, पैदा कर रहा हैं। प्रारम्भ में जुझार सिंह ने इसे टाल दिया, किन्तु कई व्यक्तियों द्वारा बार-बार कहे जाने पर उनका सन्देह दृढ़तर होता गया और उन्होंने अपनी पत्नी से अनुरोध किया कि वह हरदौल को भोजन में विषपान कराये।

लोकदेवता हरदौल

यह रानी की परीक्षा की घड़ी थी। एक ओर पतिव्रत्य की परीक्षा और दूसरी ओर पुत्रवत हरदौल। पवित्र सम्बन्धों की परीक्षा के लिये उसने हरदौल को विषपान कराया। हरदौल ने हंसते-हंसते प्राण उत्सर्ग कर दिये।

उनका पार्थिव शरीर नहीं रहा। पर वे अमर हो गये। आज भी बुन्देलखण्ड में नवदम्पत्ति अपने घर में प्रवेश के पूर्व हरदौल के चबूतरे की पूजा करते हैं। मानों नव-परिणीता मौन शपथ लेती है। कि मेरा शरीर पति के अतिरिक्त किसी के लिये नहीं है। पति भी चबूतरे को साक्षी कर मौन शपथ लेता है- मैं हरदौल की भांति, पत्नी के अतिरिक्त, अन्यों के साथ यौन आचरण नहीं करूंगा।

हरदौल की एक बहिन कुंजावती थी । उसकी पुत्री का विवाह था। भाई के यहां ''भात'' का निमंत्रण देने की परम्परा है। कुंजावती मैके गई। जुझार सिंह को बंधु हत्या का दोष लग चुका था। वह निमंत्रण किसको दे ? वह हरदौल की समाधि पर गई । उन्हें भात का निंमत्रण दिया- मन ही मन। वापिस चली गई नेत्रों की बूंदें ढरका कर। परन्तु...............कुंजावती देखती हैं कि विवाह में हरदौल की छाया-सी चलती है। चीकट का पर्याय सामान आता है। आतिथ्य में कोई कमी नहीं रहती है। विवाह कार्य मंगलपूर्व सम्पन्न हो जाता है। अनेक लोगों ने भी अनुभव किया कि हरदौल स्वयं आये और भाई का दायित्व निवाहा। घर-घर में चर्चा चल पड़ी।

तब से एक परम्परा बन गई है। बुन्देलखण्ड में। किसी के भी घर में विवाह या अन्य मंगलकार्य हो, घर की मालकिन हरदौल के चबूतरे पर जाती हैं। लोकगीत गाकर उन्हें निमंत्रण देती है। मांगलिक कार्य निर्विध्न होने की कामना करती है। और तब से गणपति की तरह प्रथम पूज्य बन गये हरदौल।

निर्विध्नता तथा प्रेम की पवित्रता के प्रतीक-लाला हरदौल इस तरह लोक देवता बन गये।

•

महाराजा छत्रसाल

विदेशी शासकों से पदाक्रांत भारत को स्वतंत्र कराने तथा राष्ट्रीय शक्तियों को जाग्रत कर मुगल सत्ता के विरूद्ध एक संगठित एवं योजनाबद्ध विद्रोह खड़ा करने में छत्रपति शिवाजी एवं छत्रसाल बुन्देला के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। छत्रपति शिवाजी की इच्छा थी कि मुगल सत्ता उखाड़ने के लिये राष्ट्रीय शक्यिों को प्रान्तवार संगठित किया जाय। पंजाब में सिख शासकों, मध्य–देश में छत्रसाल तथा दक्षिण में विजयनगर के राज्यों के शासकों से उनकी इस सम्बन्ध में मंत्रणा भी हुई। छत्रसाल के मन में विद्रोह भाव पैदा करने में छत्रपति शिवाजी की मुख्य भूमिका थी और वह उनके प्रेरक तथा राजनीतिक गुरू थे।

महाराज छत्रसाल बुन्देला के शौर्य का अनुमान इस लाकोक्ति से लगाया जा सकता है–

इत यमुना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टौंस।
छत्रसाल सों लरन की, रही न काहू हौंस।।

अर्थात यमुना, नर्मदा, चम्बल और तमसा (मिर्जापुर के निकट) नदियों के घिरे क्षेत्र में किसी को छत्रसाल से लड़ने का हौंसला न रहा। यह उनके शौर्य की सीमा थी । थोड़े बहुत अन्तर से यही बुन्देलखण्ड का सीमा निर्धारण है। बुन्देलों के द्वारा विजित क्षेत्र का यह अधिकतम विस्तार था। अतः इस भूखण्ड को बुन्देलखण्ड कहा गया और इन सीमाओं तक राज्य का विस्तार करने वाले महाराजा छत्रसाल बुन्देला को बुन्देलखण्ड राज्य का संस्थापक माना जाता है। इस राज्य की राजधानी पन्ना थी। इस विशाल भूखण्ड से सशक्त मुगल सत्ता का खदेड़ कर भारतीय सत्ता का अधिष्ठापन उनका महत्वपूर्ण कार्य था।

बुन्देलों की आदि भूमि जालौन जिले की पश्चिमी सीमा पर अवस्थित ग्राम मऊमिहौनी थी, जहां इस वंश के प्रवर्तक पंचम बुन्देला ने मऊमिहौनी को राजधानी बनाकर अपने वंश और राज्य की आधारशिला रखी थी।

इसी वंश में जन्मे चंपतराय बुन्देला ने मुगल सत्ता के विरूद्ध विद्रोह का शंखनाद किया था। उस क्रांतिकारी परिवार में छत्रसाल का जन्म 4 मई 1659 ई0 को झांसी से लगभग 27 मील पूर्व ककर–कचनये ग्राम में हुआ था। विक्रमीय संवत् के अनुसार उनकी जन्मतिथि जेठ सुदी 3 संवत् 1706 बुन्देलखण्ड में सर्वमान्य है।

छत्रसाल ने वचपन में ही, परिवार के क्षत्रियोचित वातावरण में, अस्त्र संचालन

में निपुणता प्राप्त कर ली थी। 15–16 वर्ष की उम्र में ही माता–पिता की मृत्यु हो गई। पांच भाइयों में सबसे बड़े सार–वाहन की मृत्यु छत्रसाल के जन्म के पूर्व हो चुकी थी। छत्रसाल का विवाह पंवार वंश की कन्या देवकुँअर से हुआ। तारूंण्य वय में पहुंचते ही उनकी इच्छा हुई कि पिता चंपतराय की भांति वे भी बुन्देलखण्ड के राजाओं को संगठित कर मुगल सत्ता के विरूद्ध विद्रोह का झंडा उठायें किन्तु मुगलों के भय और आंतक के तथा विद्रोही चंपतराय, के अन्तिम दिनों की दुर्गति देखकर छोटे–छोटे राजाओं से उन्हें सहयोग न मिला। फलतः उन्हों ने निश्चय किया कि मुगल सेना में नौकरी करके तथा शक्ति संचय कर कालान्तर में उस योजना को क्रियान्वित करेंगे। 1665 ई0 में वे मिर्जा राजा जयसिंह से मिले और उन्हें परखकर सेना में नियुक्त कर लिया गया।

मिर्जा राजा जयसिंह की सेनायें, दक्षिण की ओर शिवाजी के विरूद्ध अभियान में कूच कर रही थी। छत्रसाल भी इसमें शामिल थे। शिवाजी की मुगलों के विरूद्ध अभूतपूर्व सफलता से उत्तर भारत में शिवाजी के प्रति जो श्रद्धा–भाव राष्ट्रप्रेमियों में जागा था उससे छत्रसाल भी अछूते ने थे। छत्रसाल को इसमें लज्जा का अुनभव हुआ कि राष्ट्रीय जागरण के महान नेता शिवाजी के विरूद्ध वह सैन्य अभियान में भाग लें। उनका मन विद्रोह कर उठा। 1667 ई0 के अंतिम महीनों में वे शिकार का बहाना करके भाग निकले और पहाड़ी एवं दुर्गम वन–मार्ग पारकर भीमा नदी के उस पर जाकर शिवाजी से भेंट की। वे उनके पास, पूना में कुछ दिन रहे तथा मुगलों के विरूद्ध विद्रोह की अग्नि मन में भरकर उत्तर–भारत में विद्रोह का शंखनाद करने बुन्देलखण्ड वापिस आ गये। इतिहासकार ड़ॉ0 भगवानदास गुप्त के अनुसार इस प्रकार दक्षिण में स्वतंत्रता की प्रज्जवलित मशाल से एक चिनगारी बुन्देलखण्ड लाई गई थी और उससे नर्मदा के उत्तर में विद्रोह की वह अग्नि धधक उठी थी जो औरंगजेब के साथ ही उसके सारे उत्तराधिकारियों के लिए एक दुरूह समस्या बनी रही ।''

साधन और सैन्य विहीन छत्रसाल के समक्ष एक महान लक्ष्य था, मन में उत्साह और आत्मविश्वास था किन्तु सहयोगी के नाम पर कोई नहीं था। तभी औरंगजेब के मूर्ति–मंदिर–भंजन अभियान से जनरोष जाग उठा। छत्रसाल को इसमें आशा की किरण मिली। जनरोष को संगठित कर इसका उपयोग सत्ता परिवर्तन के लिये किया जाना, समयोचित होता है। प्रतिभा को अवसर और प्रेरणा मिले तो उसका श्रम फलीभूत होता है। छत्रसाल के नेतृत्व में संगठित करने का अभियान शुरू हुआ। धीरे–धीरे बुन्देलखण्ड के छोटे–छोटे रजवाड़े सर्व–इच्छित संकल्प पूर्ति के लिये छत्रसाल के नेतृत्व में संगठित होने लगे। बुन्देलों को एकता के सूत्र में पिरोकर मुगलदासता से इस भूखण्ड को मुक्त कराने का संकल्प लेकर छत्रसाल ने अपना विद्रोह बिगुल बजाया। इस अभियान के प्रारम्भ में 1671 ई0 में , उसके साथ केवल 5 घुड़सवार तथा 25 पैदल सैनिक थे। इसके बाद अपने

जीवन के अगले 60 वर्ष उन्होंने मुगल सत्ता से सतत् संघर्ष लेकर, उनके अधीनस्थ किलेदारों, शासकों आदि को इसे भूखण्ड से खदेड़ने में अपना पूरा जीवन ही उड़ेल दिया। कई बार कूटनीतिक कारणों से उन्हें मुगलों से सम्बन्ध जोड़ने और तोड़ने पड़े। पर बुन्देल शासित राज्य की सीमाओं का विस्तार करते रहे। उनकी स्थायी सेना में 42 हजार तोपों का एक लश्कर अलग था।

अपने राज्य काल के अन्तिम दिनों के छत्रसाल को मुहम्मद खां बंगश से युद्ध करना पड़ा। पुत्रों की अकर्मण्यता और वृद्धापन के शैथिल्य से जब वह पराजित–सा अनुभव कर रहे थें, तो उन्होंने पेशवा बाजीराव को पत्र लिखकर सहायता की याचना की तथा एक तिहाई राज्य उत्तराधिकार में देने का आश्वासन दिया। छत्रसाल ने लिखा–

"जो गति भई गजेन्द्र की, सो गति पहुंची आज।
बाजी जात बुन्देल की , बाजी राखो लाज।।

पेशवा बाजीराव ने ससैन्य मदद की। बंगश पराजित हुआ तथा छत्रसाल विजयी। छत्रसाल की मृत्यु 4 दिसम्बर 1731 ई0 को मऊ सहानियां (म0प्र0) में हुई। उनके उत्तराधिकार में राज्य का एक तिहाई भाग पेशवा को मिला तथा बुन्देलखण्ड में मरहठों की राज्य शक्ति का उदय हुआ।

छत्रसाल एक अच्छे कवि थे। उनके राजकवि लाल कवि ने "छत्रप्रकाश" में तथा महाकवि भूषण ने "छत्रसाल भूषण" में उनकी प्रशस्ति लिखी। छत्रप्रकाश तत्कालीन इतिहास का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। छत्रसाल कवियों का बड़ा सम्मान करते थे। ऐसी जनश्रुति है कि उन्होंने भूषण की पालकी में अपना कन्धा लगाया था। छत्रसाल धार्मिक विचारों के थे। प्रणामी सम्प्रदाय के स्वामी प्राणनाथ उनके धार्मिक गुरू थे। स्वामी जी का बुन्देलखण्डवासियों पर गहरा प्रभाव था। छत्रसाल को आध्यात्मिक तथा नैतिक बल प्रदान करने में तथा बुन्देलखण्डवासियों की दृष्टि में छत्रसाल के राजनैतिक उद्देश्यों का महत्व बढ़ाने में स्वामी जी की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

छत्रसाल का स्मरण बुन्देलखण्ड में आज भी पुण्यकारी और लाभकारी माना जाता है। 'छत्रसाल महाबली, करियो भली–भली' कहकर अभी भी यहां के लोक क्षेत्रों में लोग व्यापार आरम्भ करते हैं।

संघर्ष ही जीवन है। यह छत्रसाल के जीवन में चरितार्थ हुआ था। वह बिना अर्थ और सहयोगी के वह एक दृढ़ इच्छाशक्ति और संकल्पित लक्ष्य लेकर बढ़ा । बार–बार पराजय झेलकर भी आगे बढ़ना और विजयश्री प्राप्त कर नये मोर्चे की तैयारी करना उनके अदम्य साहस व उत्साह का जीवंत प्रमाण है और अपने आप में प्रेरक प्रसंग। छत्रसाल का जीवन–चरित्र देश के स्वाधीनता संग्राम का एक महात्वपूर्ण पृष्ठ है।

•

क्रान्तिकारी बरजोर सिंह

बुन्देलखण्ड में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह तथा राजशाही से मुक्ति का अभियान सन 1857 से नहीं अपितु 1804 से ही प्रारम्भ हो चुका था। इसकी अगुवाई जालौन जिले से हुई।

जालौन में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध क्रान्ति तथा राजशाही से मुक्ति का अभियान मई 1804 से सितम्बर 1947 तक चला, जबकि सामन्यतया देश में यह अवधि मई 1857 से 15 अगस्त 1947 तक मानी जाती है।

इस जिले में सन 1804 ई0 में ही ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध क्रान्ति का बिगुल बजाने का श्रेय अमीटा–विलायां के परमार शासकों को जाता है। इसी परिवार में 1857 के समय दीवान बरजोर सिंह हुए, जिन्होंने इस अंचल में क्रान्ति की दीपशिखा सर्वाधिक लम्बी अवधि (1869) तक प्रज्ज्वलित रखी थी। उनका पूरा नाम 'सवाई चामुण्डराय दीवान बरजोर सिंह परमार' लिखा जाता था। इस परिवार ने 22 मई 1804 को एक भीषण युद्ध में ब्रिटिश सैनिकों तथा अधिकारियों को मौत के घाट उतारकर पराजित किया था। इससे अंग्रेजी अधिकारियों का मनोबल टूट गया था। इस घटना को ब्रिटिश सरकार ने इतनी गम्भीरता से लिया था कि लार्ड लेक ने लार्ड वैंलेस्ली को लिखे गये अपने पत्र (दिनांक 28 मई 1804) में अमीटा–बिलायां युद्ध में अंग्रेजी सेना की पराजय का उल्लेख किया था तथा इस पराजय के बाद बुन्देलखण्ड में तैनात ब्रिटिश सेनानायक फावसेट को हटा दिया गया था।

जालौन जिले के स्वातंत्र्य इतिहास के अनुशीलन के लिए अमीटा–बिलायां परिवार की पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालना प्रासंगिक है। बुन्देलखण्ड के परमार (पंवार) वंश के राजा रतनशाह की ग्यरहवीं पीढ़ी में राजा जसवन्तशाह हुए। सनृ 1660 ई0 में एक युद्ध में समथर का राज्य खोकर इन्होंने बिलायां में राज्य संचालन केन्द्र बनाया। उनके छह पुत्र सेनापतशाह, हिम्मतशाह, जगतशाह, केसरीशाह, माधवशाह तथा माधाताशाह थे। इन्हें दीवान की पदवी प्राप्त थी। इनमें से दीवान हिम्मत शाह ने अमीटा में, केसरी शाह ने बिलायां में तथा माधव शाह ने सला में अपनी–अपनी गढ़ी बनायी। अमीटा तथा बिलायां के बीच सीधी दूरी लगभग दो मील है। पुराने अभिलेखों में इसे अमीटा–बिलायां लिखा जाता है। जिला जालौन के गजेटियर्स में इसे 'अमेंटा–मलाया 'लिखा गया है, जो सम्भवतः अंग्रेजों के उच्चारण दोष के कारण है। इसे 'अमीटा–बिलायां' ही पढ़ा जाना चाहिये।

अमीटा–बिलायां का यह स्वाभिमानी परिवार अंग्रेजों की राजस्व वसूली सम्बन्धी अपमानजनक नीति का घोर विरोधी रहा। इसी कारण इस परिवार के दीवान जवाहर सिंह ने सन् 1804 में अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया, निकटवर्ती जमींदारों को भी

संगठित किया तथा अंग्रेजों के विरोधी अमीर खां पिण्डारी से भी सम्बन्ध विकसित किये। पिण्डारियों का शिविर बिलायां के निकट एक जंगल में लगता था, जहां अब 'पिण्डारी' ग्राम बन गया है। अंग्रेजों ने इस विद्रोह को कुचलने तथा अमीटा बिलायां दुर्गों को ध्वस्त करने के लिए बुन्देलखण्ड में नियुक्त सेनानायक फावसेट को समुचित निर्देश दिये। फावसेट ने ब्रिटिश सेना की सात कम्पनियों तथा तोपखाने की एक टुकड़ी के साथ 21 मई 1804 को 'अमीटा–बिलायां' पर आक्रमण कर दिया। अमीटा–बिलायां के शासक अचानक हुई इस घेराबन्दी से विस्मित रह गये। उन्होंने एक ओर एक दूत भेजकर अंग्रेजी सेना को झांसा दिया कि वह संधि करना चाहते हैं। दूसरी ओर उन्होंने अपना एक अन्य दूत पिण्डारी शिविर में भेजकर अमीरखां पिण्डारी को आमंत्रण भेजकर इस युद्ध में अंग्रेजों को सबक सिखाने की रणनीति बनायी। 22 मई 1804 को ही अमीर खां के सैनिकों ने अंग्रेजी सेना को घेर लिया। अंग्रेजी सेना बीच में घिर गयी। बाहरी परिधि में पिण्डारी सेना तथा अन्दर की ओर से परमार सेना ने ब्रिटिश सेना पर हमले शुरू कर दिये। अंग्रेजी सेना परास्त हुई। दो दिन के इस युद्ध में ब्रिटिश सेना को जन–धन की भारी क्षति उठानी पड़ी। उसकी भारतीय पदाति सेना की दो कम्पनियों तथा तोपखाना टुकड़ी के पचास गोरे सैनिक मौत के घाट उतार दिये गये। मृत अंग्रेज अधिकारियों की समाधियां कोंच में गढ़ी के ऊपर सरोजनी नायडू पार्क तथा जल संस्थान के मध्य स्थित कब्रिस्तान में बनायी गयी। इस युद्ध में ब्रिटिश सेना की पराजय का दण्ड सेनानयक फावसेट को भुगतना पड़ा। उसे हटा दिया गया।

परवर्ती प्रथम स्वतंत्रता संग्राम पर अमीटा बिलायां युद्ध के दो विशेष प्रभाव हुए। एक ओर यह कि इस क्षेत्र में तैनात ब्रिटिश अधिकारियों का मनोबल टूट गया। वे शंकित रहने लगे कि जाने कब क्या आफत आ जाये? उन्होंने इस परिवार की गतिविधियों परनिगरानी तेज कर दी। दूसरी ओर अंग्रेजों की दमनात्मक नीति से क्षुब्ध इस अंचल के जमीदारों को एक सशक्त नेतृत्व मिल गया। वे 1857 आते–आते अमींटा के दीवान सूबा जी परमार तथा बिलायां के दीवान बरजोर सिंह के नेतृत्व में संगठित हो गये। इन्होंने अपने साथियों को गुरिल्ला युद्ध में प्रशिक्षित किया तथा बेतवा की बीहड़ पट्टियों में सुरक्षित ठिकाने बनाये। बरजोर सिंह ने स्वयं ग्राम विरासिनी में एक भूमिगत आवास बनाया था।

इधर राष्ट्रीय परिदृश्य बदलने लगा। अधिकतम राजस्व के लिए राज्य विस्तार ही अंग्रेजों की नीति बन गयी। इसके लिए अनेक राज्यों का ब्रिटिश सत्ता में विलीनीकरण किया गया। जालौन राज्य उत्तराधिकारी के अभाव में अंग्रेजों ने हथिया लिया। झांसी में गंगाधर राव के मरणोपरान्त रानी लक्ष्मीबाई को दत्तक पुत्र लेने की अनुमति नहीं दी गयी। पूना से अपदस्थ पेशवा बाजीराव आठ लाख रुपये पेंशन लेकर बिठूर (कानपुर) में रहने लगे। उन्होंने अपने तीन दत्तक पुत्रों में ज्येष्ठ नाना साहब घोंदू को वसीयत द्वारा सम्पत्ति

का मालिक धोषित किया। उनकी मृत्यु के बाद नाना साहब को बिठूर की सम्पत्ति तो मिल गयी, किन्तु अंग्रेजों ने उनका गोदनामा अस्वीकृत करके पेंशन नहीं दी। नवाब वाजिद अली शाह के प्रबन्ध को असन्तोषजनक बताकर अवध पर भी अधिपत्य कर लिया गया। इन तमाम कारणों से असन्तोष पनपा तथा एकता के लिए अगुवाई के प्रयास तेज हो गये। सेना को दिया गया चर्बीयुक्त नया कारतूस हिन्दू और मुसलमानों के धर्म भ्रष्ट करने का प्रचार भले ही अफवाह क्यों न कहा गया हो, सुप्रचारित होने के कारण सेनाओं में आक्रोशित विद्रोह के रूप में सामने आया जिसे प्रारम्भ में बरहामपुर का 'सिपाही विद्रोह तथा मेरठ में कुछ सैनिकों का विद्रोह कहा गया। वह कुछ दिनों में ही विदेशी शासन के विरुद्ध विप्लव के रूप में सामने आया। इसके साथ ही यह जिला भी सत्तावनी क्रान्ति का प्रमुख केन्द्र बन गया।

झासी में रानी लक्ष्मी बाई के नेतृत्व में स्वांतत्रय वीरों ने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध जो संघर्ष किया उसकी स्मृतियाँ इतिहास की धरोहर हैं। झांसी के पराभव के पश्चात् रानी ने 1857 की क्रान्ति के संचालन केन्द्र कालपी की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उनकी ऐतिहासिक भेंट क्रान्तिकारी बरजोर सिंह से हुई। तबतक बरजोर सिंह की ख्याति क्षेत्र में फैल चुकी थी। इनके संकेत पर हजारों व्यक्ति अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष के लिये निकल पड़ते थे। बरजोर सिंह तथा रानी लक्ष्मी बाई के बीच हुई यह भेंट इस अंचल में क्रान्ति को नियोजित करने तथा जन गांव–गांव में संपर्क अभियान विकसित करने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। बरजोर सिंह ने ग्राम सूपा (हमीरपुर) में आयोजित क्रान्तिकारी सम्मेलन में भी भाग लिया तथा नाना साहव के सेनापति ताँत्याटोपे एवं जालौन की शासक ताईबाई को भी निरंतर सहयोग प्रदान किया किन्तु अनेक परेशानियों के कारण 10 मई 1857 को ताईबाई ने जालौन के डिप्टी कमिश्नर टरनन के समक्ष आत्म समर्पण कर दिया। बरजोर सिंह सदैव गाँव–गाँव घूम कर अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध वातावरण बनाते रहते तथा क्रान्तिकारियों के पक्ष में जन–समर्थन बढ़ाते रहे। 23 मई 1857 को कालपी के पतन के पश्चात रानी झांसी क्रान्तिकारियों के साथ गोपालपुरा होते हुये ग्वालियर की ओर प्रस्थान कर गई। प्रमुख क्रान्तिकारियों के जिले से बाहर चले जाने के बाद क्रान्ति का नेतृत्व बरजोरसिंह पर आ गया। उन्होंने कालपी–झाँसी मार्ग के निकट पड़ने वाले प्रमुख स्थानों के विद्रोही नेताओं को संगठित करके अंग्रेज–अधिकारियों की नींद हराम कर दी। उसके साथियों गम्भीर सिंह तथा देवी सिंह मोंठ ने ब्रिटिश ठिकानों पर हमले शुरू कर दिये। झाँसी के क्रान्तिकारी काले खाँ भी अपने विश्वस्त अश्वारोही सैनिकों के साथ बिलायाँ आ गया। बिलायाँ गढ़ी क्रान्तिकारियों का केन्द्र बन गयी। इस सूचनाओं के प्राप्त होते ही अंग्रेजी सेनाओं को बिलायाँ गढ़ी ध्वस्त करने का निर्देश मिला। मेजर ओर ने कालपी से तोपों

सहित सेना लाकर गिरथान में पड़ाव डाल दिया। हैदराबाद सैन्यवाहिनी ने 30 मई की रात्रि में बिलायाँ की इस बीच बरजोर सिंह तथा दौलत सिंह संयुक्त रूप से सैदनगर, कोटरा, सेंवढ़ा, भांडेर, गढ़ी को घेर लिया।

इकतीस मई को ब्रिटिश तोपों ने गढ़ी के अन्दर सन्नद्ध क्रान्तिकारियों पर गोलाबारी करके आग उगलनी प्रारम्भ कर दी। गढ़ी का मुख्य द्वार खोलकर अश्व पर सवार अपना ध्वज लेकर बरजोर सिंह की सेना मैदान में आ गई। भीषण युद्ध हुआ। क्रान्तिकारियों के हौंसले पस्त होते देखकर घायल बरजोर सिंह के कुछ सहयोगी उन्हें घोड़े से उतारकर बेतवा की ओर ले गये। पलक झपकते ही बरजोर सिंह के घोड़े पर उनका हमशक्ल सिपहसालार मोतीगूजर ध्वज थामकर आरूढ़ हो गया। अंग्रेजी सेना उसे ही बरजोर सिंह समझकर उससे युद्ध करती रही। उसने दो वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारियों को घायल कर दिया। अन्त में उसे युद्ध करते हुये अश्व तथा ध्वज सहित बन्दी बना लिया गया। उसके साथ 34 अन्य सैनिक बन्दी बनाये गये। तथा लगभग डेढ़ सौ क्रान्तिकारी शहीद हो गये।

बाद में अंग्रेजी अधिकारियों को पता चला कि अश्व तथ ध्वज सहित जिस सेनानायक को बन्दी बनाया गया है वह बरजोर सिंह नहीं अपितु मोती गूजर है। बरजोर सिंह अंग्रेजों की पहुंच से दूर जा चुका है। मोती गूजर को राजद्रोह के आरोप में फांसी के फन्दे पर लटका दिया गया। आजादी के दीवाने मोती गूजर ने अपने प्राणों की आहुति देकर बुन्देलखण्ड में क्रान्ति की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखने के लिये क्रान्तिकारी बरजोर सिंह को जीवित बचा लिया। उसका जीवन धन्य हो गया। ऐसे उदाहरण इतिहास में इने गिने ही मिलते हैं।

इसके तुरन्त बाद बरजोर सिंह को जिन्दा या मुर्दा पकड़ने पर दो हजार रुपये का इनाम घोषित कर दिया गया। बरजोर सिंह ने पूरी तरह क्रान्ति का नियंत्रण अपने हाथ में लेकर राजस्व वसूली प्रारम्भ कर दी। अनेक गांवों में अंग्रेजी सत्ता समाप्त प्राय थी। ग्वालियर के पतन तथा सिंधिया के पलायन के पश्चात् क्रान्तिकारियों का हौंसला पुनः बढ़ गया। जालौन जिला बरजोर सिंह तथा दौलत सिंह इन्दुरखी के नियन्त्रण में आ गया। 2 अगस्त को उन्होनें गुरसरांय के शासक को जालौन से खदेड़कर उस पर भी कब्जा कर लिया। जब ब्रिटिश सेना जालौन आयी तो उससे हुई झड़पों के समय क्रान्तिकारियों ने जालौन के थानेदार को मार डाला। बरजोर सिंह तथा उसके साथियों ने अंग्रेजों के मददगार गाँवों तथा परिवारों पर धावा बोलकर उनसे धन की उगाही तथा लूट शुरू कर दी ताकि क्रान्तिकारियों के लिये वाँछित साधन जुटाये जा सकें। दिन दहाड़े भरी दुपहरिया यह आतंक प्रारम्भ हो गया। इस अंतराल में बरजोर सिंह की सेना तथा ब्रिटिश सेना की टुकड़ियों में निरंतर संघर्ष होता रहा। 4 सितम्बर 1858 को मऊ महौनी तथा 5 सितम्बर 1858 को

सरावन–सहाव की लड़ाई विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन स्थानों पर लगभग 150–150 क्रान्तिकारी शहीद हुये। इस अवधि तक ब्रिटिश सैन्य अधिकारी अपने पत्र व्यवहार में एक सशक्त राजनैतिक विद्रोही के रूप में बरजोर सिंह का उल्लेख करते हुये उसके दमन की योजना बनाते रहे। पूरे देश में छिटपुट घटनाओं को छोड़कर शान्ति स्थापित हो चली थी तथा ब्रिटिश सत्ता राज्य संचालन करने लगी थी। फिर भी ब्रिटिश शासन ने सर्वत्र स्थानीय अधिकारियों से विद्रोही गतिविधियों पर तथ्यात्मक विवरण माँगे। इससे इस अंचल के अधि ाकारियों के सामने विचित्र उहापोह की स्थिति आ गयी। यदि वे कहें कि उपद्रव शान्त नहीं हुये तो उनकी अक्षमता प्रमाणित होती थी। यदि वे लिखें कि उपद्रव शान्त हो गये और तत्पश्चात् कहीं से बरजोर सिंह तथा उनके साथी प्रगट होकर उत्पात करने लगें तो जबाब देते नहीं बनेगा। इस सब पर विचार करके क्षेत्र के प्रभारी कैप्टन बेली ने इंग्लैण्ड स्थित भारत सचित को 4 जनवरी 1859 को पत्र लिखकर अनुरोध किया कि "बरजोर सिंह निवासी बिलायाँ को राजनैतिक विद्रोह के बजाय डाकू मान लिया जाये। (बरजोर सिंह बी रिगार्डड ए बैन्डिट रादर दैन ए पालिटिकल रिबैल) जिस प्रकार छत्रपति महाराज शिवाजी को कुछ इतिहासकारों ने पहाड़ी डाकू चित्रित किया उसी प्रकार अंग्रेज अधिकारियों की सोची समझी रणनीति के तहत क्रान्तिनायक बरजोर सिंह को 'डाकू' के रुप में चित्रित किया गया।

कछवाहा घार तथा मऊ मिहौनी में ब्रिटिश सेनाओं के छक्के छुड़ाते रहे। बरजोर सिंह ने इस दौरान दतिया राज्य में शरण ली तथा इसके आरोप में ब्रिटिश सरकार ने दतिया राज्य पर जुर्माना लगा दिया। इसके बाद वह पुनः जालौन जिले में आ गये तथा अपनी सेना में नयी भर्तियाँ करके उसका पुनर्गठन किया। इन निरंतर परेशानियों से त्रस्त ब्रिटिश शासन ने व्हीलर को भारी सेना लेकर बरजोर सिंह के दमन हेतु भेजा। बरजोर सिंह के अनेक सैनिक मारे गये तथा वह पुनः भागने में सफल हो गये। इसके बाद भी वह निरंतर संघर्ष करते हुये अपने जीवन के अंतिम दिनों में अपनी बहिन के पास पलेरा (जिला–टीकमगढ़ म0प्र0) चले गये। सहकारी अभिलेख के अनुसार बरजोर सिंह 1869 तक जीवित रहे। मेरी शोध यात्रा के दौरान, अमींटा के उनके वंशजों ने बताया कि पलेरा में उनका निधन हो गया। इन वंशजों ने मुझे उनके अनेक दुर्लभ चित्र, वंशावली तथा अन्य दुर्लभ विवरण भी उपलब्ध कराये। उनके निधन से इस क्षेत्र में प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की अन्तिम ज्योति बुझ गई।

15 अगस्त 1972 को बिलायाँ में बरजोर सिंह की पुण्य स्मृति में एक स्मारक चबूतरा बनवाया गया, जिसका उद्‌घाटन जालौन के तत्कालीन जिलाधिकारी एम0लाल ने किया था।

•

सांस्कृतिक परंपराऐं

1. बुन्देलखण्ड में सूर्यपूजा की परंपराऐं
2. बुन्देलखण्ड का सांस्कृतिक स्वरुप
3. बुन्देलखण्ड की लोककलायें तथा शिल्प
4. बुन्देलखण्ड में फागों के विविध रूप
5. बुन्देलखण्ड में फड़बाजी तथा ख्यालबाजी
6. बुन्देली महिलाओं का लोकपर्व–कातिक नहान
7. टेसू
8. बुन्देली लोक परंपराओं की वैज्ञानिकता
9. कोंच की रामलीला
10. पारसी थियेटर का महत्वपूर्ण केन्द्र चरखारी

बुन्देलखण्ड मे सूर्य-पूजा की परंपरा

भगवान सूर्य सृष्टि के आदिकाल से ही प्रत्यक्ष देवता के रुप में पूजित हैं इसीलिये उन्हें 'आदिदेव' कहा गया है। वह प्रकाश, उल्लास, आरोग्य और तत्वज्ञान के स्रोत हैं। वैदिक साहित्य में उन्हें जीवनशक्तिप्रदायक [1] तथा सर्वरोग विनाशक [2] कहा गया है। 'तमसो मा ज्योर्तिगमय' का संदेश सूर्य से ही अनुप्राणित है। इनकी उपासना भारत में ही नहीं अपितु विश्व के अनेक देशों में विभिन्न नामों से की जाती है। विश्व. में अनुमानतः ईसा से 6 हजार वर्ष पूर्व से लेकर 1400 ई. तक सूर्योपासना के प्रमाण मिलते हैं। विश्व का प्राचीन दर्शन सौर दर्शन ही है। ईरानियों के मित्र और ग्रीकों के हेलियस, मिस्रियों के 'रा' तातारियों के 'फ्लोरस', प्राचीन पेरु के फुलेस उत्तरी अमेरिका के रैड़ इंडियनों के एतना, अफ्रीका के तिले चीन के उ.ची2 तथा जापान के इज्रागी' सूर्य के नाम ही थे और वे सब इन नामों से सूर्य उपासना करते थे। यूनान का सम्राट सिकन्दर सूर्य उपासक था।[3] प्राचीन भारत में पंच देवायतन अथवा पंचदेवोपासना प्रचलित थी। इन पंचदेवों में सूर्य के साथ विष्णु, शिव, गणेश तथा शक्ति की पूजा होती थी। इनमें एक प्रमुख देवता को केन्द्र में रखकर शेष को चार कोणों पर प्रतिष्ठित किया जाता था। इनके क्रम का निश्चित विध ाान है। इसी आधार पर पंचायतन मन्दिर शैली भी विकसित हुई। भारत में हिन्दू धर्म के साथ बौद्ध एवं जैन संप्रदायों में भी सूर्य–पूजा के प्रमाण मिलते हैं इस व्यापकता के कारण भारतीय सूर्योपासना इतनी प्रबल हुई कि उसका प्रचार इस देश के बाहर अफगानिस्तान, नेपाल, वर्मा, श्याम, कम्बोडिया, जावा–सुमात्रा आदि देशों में हुआ। इन देशों में सुरक्षित मूर्ति अवशेष आज भी इसका उद्‌घोष करते हैं। सूर्य के नाम पर सूर्यवर्मा आदि नाम विदेशों में प्रचलित हुये। संपूर्ण विश्व में रविवार सूर्य का दिन माना जाता है।

प्रतिमा विज्ञान के विकास के पूर्व 'प्रतीक पूजा' का विधान था। सूर्य की प्रतीक उपासना में चक्र अथवा कमल की उपासना की जाती थी। इन प्रतीकों पर आधारित सूर्य–उपासना के मंदिर भारत में ही नहीं विदेशों में भी मिलते हैं। दक्षिण अमेरिका के प्राचीन पेरु में एक ऐसे सूर्य मन्दिर होने का प्रमाण मिलता है। जहां 'सूर्यचक्र' प्रतिष्ठित है। मूर्त रुप में सूर्य– प्रतिमा का प्रथम प्रमाण बोधगया की कला में है। भान्जा की बौद्ध गुफा में भी सूर्यप्रतिमा बोधगया की परंपरा में हैं। इनका काल ईसापूर्व प्रथमशती है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ईसा की प्रथमशती पूर्व तक सूर्य की प्रतीक उपासना का विधान था। कालान्तर में प्रतिमा उपासना प्रारम्भ हुई। निष्कर्षतः प्रतीक–उपासना के केन्द्रों की निर्माण तिथि ईसा से प्रथम शती पूर्व है। भले ही उनका विस्तार और पुनर्निर्माण बाद में हुआ है।

बुन्देलखण्ड में भी सूर्य उपासना तथा मंदिरों की यह दोनों कोटियां मिलती है। यह क्षेत्र मुख्यतः वनाच्छादित था यहां अनेक ऋषियों और मुनियों के आश्रम थे। वेद और पुराणों की रचना यहीं कालपी में महामुनि वेदव्यास ने की थी। वन क्षेत्रों में पूजित लोक

देवताओं की भाँति सूर्य की प्रतीक उपासना चबूतरों पर चक्र या कमल प्रतिष्ठित करके की जाती होगी। कालान्तर में नागर सभ्यता के विकास के बाद वहां मन्दिरों का निर्माण हुआ होगा।

प्रतीक पूजा की दृष्टि से बुन्देलखण्ड में दो मन्दिर उल्लेखनीय है– प्रथम उनाव (जिला दतिया) तथा द्वितीय गोरा (जिला टीकमगढ़) में। इन दोनों में सूर्य के प्रतीक चक्र देवरुप में प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों के गर्भगृह भी चारों ओर से खुले हैं, जिससे हमारा उक्त अनुमान सही ठहरता है।

उनाव का सूर्यमन्दिर बालाजी सूर्यमन्दिर के नाम से विख्यात है। इसे ब्रह्म बालाजी या बरमाजू का मन्दिर भी कहते हैं। लोक में मान्यता है कि यह बाल+अर्क=बाल–सूर्य अर्थात् यह उदीयमान सूर्य का मन्दिर है। यह दतिया से झांसी बरास्ता गुजर्रा दतिया से 17 किलोमीटर पूर्व तथा झांसी से 11 किलोमीटर उत्तर में पुष्पावती (पहूज) तट पर स्थित है। पहूज मन्दिर के चरण पखारती है। नदी तट से मंदिर में पहुंचने के लिये 42 सीढ़ियां है। इस सूर्य मंदिर में काले रंग के एक शिलाखण्ड पर चक्राकार सूर्य यंत्र प्रतिष्ठित है। यह यंत्र पत्थरों तथा ईंटों से बने चबूतरे पर इस प्रकार प्रतिष्ठित है कि सूर्य चाहे उत्तरायण से या दक्षिणायन उसकी प्रथम किरण इस यंत्र पर अभिषेक करती है।[8] यह यंत्र पीतल की चादर से मढ़ा हुआ है। वृत्ताकार यंत्र के किनारों पर 21 छोटे छोटे त्रिकोण सूर्य की विभिन्न कलाओं के द्योतक हैं। इसके मूल निर्माण काल का पता नहीं चलता है। इस बारे में अनेक चमत्कारपूर्ण जनश्रुतियां हैं दतिया गजेटियर के अनुसार इसका पुनःनिर्माण एवं विस्तार 1844 ई. में कराया गया। यह विशाल परकोटे के अंदर स्थित है। परकोटे के अंदर यात्री–विश्रामालय तथा मंदिर कर्मियों के आवास हैं। इसका पूर्वाभिमुखी मुख्य द्वार पहूज की ओर है। बुन्देलखण्ड के इतिहासवेत्ता डा. काशीप्रसाद त्रिपाठी इसे कुषाणकालीन मानते हैं। मेरे अनुमान से पूर्व विवेचन के अनुसार यह ईसा की पूर्व प्रथम शती से भी पहले का है।

गोरा (टीकमगढ़) का सूर्य मंन्दिर सपाट छत का ईंटों से बना है। गर्भगृह, जहां सूर्य चक्र प्रतिष्ठित है, चारों ओर से खुला है। डा. त्रिपाठी इसे गुप्तकालीन मानते हैं मेरे उपर्युक्त विवेचन पर आधारित निष्कर्ष के अनुसार यह भी ईसा से प्रथमशती पूर्व का है।

सूर्यप्रतिमा की देवप्रतिष्ठा वाले मन्दिरों में कालप्रियनाथ सूर्यमन्दिर (कालपी) जरायमठ बरवासागर, रहिलिया (राहिल्यनगर, महोबा) बुधनी (ललितपुर) एवं जालौन नगर के सूर्यमन्दिर बुन्देलखण्ड के उत्तरप्रदेशीय क्षेत्र में आते हैं मध्यप्रदेशीय बुन्देलखण्ड में मड़खेरा, ऊमरी, नारायणपुर एवं बनारसी ग्राम (जिला टीकमगढ़) रहली (सागर) चित्रगुप्त का सूर्य मंदिर (खजुराहो) मऊसहानियां एवं छतरपुर नगर (जिला छतरपुर) मिहोना एवं भरौली (जिला भिण्ड) रोंगरा एवं सेसई (जिला शिवपुरी) तथा आलमपुर (जिला ग्वालियर) के मन्दिर चर्चित हुये हैं।

भगवान श्रीकृष्ण के पौत्र साम्ब को कुष्ठ रोग से निदान हेतु भगवान सूर्यदेव ने

उनके तप से प्रसन्न होकर तीन सूर्यमन्दिर बनावाकर उनमें प्रातः मध्यान्ह तथा अपरान्ह में सूर्य दर्शन करने निर्देश दिया था। तदनुसार साम्ब ने देश के अत्यंत प्रसिद्ध तीन प्राचीन सूर्य मन्दिरों का निर्माण मूल स्थान (मुल्तान) तथा कालप्रिय (कालपी) में कराया।[11]

इनमें कालप्रियनाथ का पुराणकालीन सूर्यमन्दिर कालपी (उत्तरप्रदेशीय बुन्देलखण्ड) में था। कन्नौज राज्य के अंतर्गत होने के आधार पर चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इसी को कन्नौज का सूर्यमन्दिर कहा है।[12] यह विशाल मन्दिर कई कोस की परिधि में यमुना तट पर एक ऊँचे टीले पर बना था। मन्दिर का जो भाग यमुना को जोड़ता था। उसे 'सूर्यघाट' कहते थे। अब इस स्थान को स्थानीय लाग 'सुअरघटा' कहते हैं। मन्दिर और प्रतिमायें ध्वस्त हो गई हैं। इससे यह कहना कठिन है कि मूलतः यहाँ 'चक्र' प्रतिष्ठित था, अथवा प्रतिमा। किन्तु कालान्तर में इसका जीर्णोद्धार हुआ। तब प्रतिमा स्थापित हुई होगी। हर्ष के शासनकाल में इसका वैभव चरमोत्कर्ष पर था। इस मन्दिर के सूर्यकुण्ड (जिसे अब 'लोधाकुण्ड कहते हैं') पर कालप्रियनाथ यात्रा' नामक विशाल मेला लगता था। इस मेले की परंपरा अभी भी विद्यमान है। जिला गजेटियर[13] के अनुसार यह जालौन जिले के सबसे बड़े मेले के रुप में सूरज जात्रा तालाब मेला नाम से अंकित है। गजेटियर में इसका स्थान गुलौली बताया गया है। गुलौली मन्दिर के निकट एक ग्राम है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह मन्दिर गुलौली ग्राम तक विस्तृत रहा होगा। कालप्रियनाथ यात्रा में भवभूति के उत्तररामचरितम् नाटक का प्रथम मंचन होना, उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। राष्ट्रकूटनरेश इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण करते समय यात्रा पथ में, अपनी वाहिनियों सहित कालप्रियनाथ प्रांगण में विश्राम किया था। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दचतुर्थ के खम्भात में मिले एक अभिलेख के अनुसार उसकी सेना के हाथियों ने अपने दन्त प्रहारों से इस मन्दिर को चौरस (नष्ट) कर दिया था।[14] बाद में कालपी के अंतिम हिन्दू राजा श्रीचंद्र उर्फ लहरिया राजा की सात रानियों ने इसी सूर्यमन्दिर के प्रांगण में जौहर किया जिनकी स्मृति में सात मठियां बनी होने से, इस स्थान को 'सतमठिया' भी कहते हैं। मन्दिर पूरी तरह नष्ट हो गया है। किन्तु प्राचीर की नींव तथा अनेक उत्कीर्ण अलंकृत शिलाखण्ड एवं सूर्य मेले की जन–आस्था यहां विशाल मन्दिर होने के परिचायक हैं। पर्यटन विभाग ने कालपी से इस मन्दिरस्थल को पक्की सड़क से जोड़ने के लिये एक करोड़ बयासी लाख रुपया स्वीकृत किया है।

महोबा के निकट रहिलिया (राहिल्यनगर) में सूर्यमन्दिर एवं सूरजकुण्ड है। यह महोबा छतरपुर बाई पास रोड से 3 किलोमीटर दूरी पर स्थित है। चंदेल शासक राहिलदेववर्मन ने इसका निर्माण ग्रेनाइट पत्थर से पंचायतन शैली में कराया था। इसके गर्भ गृह में सूर्य की स्थानक प्रतिमा तथा उपमंदिरों में शिव,गणेश, शक्ति एवं विष्णु (पंचदेवों) की प्रतिमायें प्रतिष्ठित थी। यह मन्दिर भव्य एवं कलात्मक बना था। अब इसका आंशिक भाग खण्डित हो गया है। छंद योजना की दृष्टि से गर्भ गृह अंतराल तथा अर्द्धमण्डप था। मुस्लिमकाल में इसकी प्रतिमा खण्डित कर दी गई। शिरोभाग एवं मूर्ति स्थानीय सर्वेकोठी

में संरक्षित है। मंन्दिर के बाहर 50×50×50 फुट आकार का सूर्यकुण्ड है। इसके निकट अनेक खण्डित प्रतिमायें, अलंकृत आमलक चक्र तथा द्वार पट्टिकायें पड़ी हुई हैं।[15]

महोबा से सूर्य की एक सुन्दर स्थानक प्रतिमा प्राप्त हुई थी, जो राज्य संग्रहालय लखनऊ में संग्रहीत है (सं.सं. 87.1137)। मध्यकालीन कला की इस अनूठी कृति में सूर्य पांच घोड़ों वाले रथ पर खड़े हैं कंधे तक उठे हुए दोंनों हाथों में सनाल पुष्प पकड़े, सिर पर अलंकृत मुकुट, कुण्डल, हार, करधनी, कंगन, पैरों में ऊँचे उपानह एवं अधोवत्र पहने हैं। सूर्य के पैरों के बीच दाहिना हाथ अभय तथा बांधे हाथ में घट लिये पूर्ण अलंकरणों से युक्त छोटी सी आकृति में महाश्वेता अंकित की गई है। रथ पर सूर्य के सारथी अरुण को दर्शाया गया है। मूर्ति के दाँयी ओर पिंगल तथा बायीं ओर दण्ड दर्शाये गये हैं। पैरों के पास हाथ जोड़े उपासक एवं उपासिका हैं मूर्ति के पीछे अलंकृत प्रभामण्डल है।[15क]

ललितपुर जिले के महरौनी विकासखण्ड में 'बुधनीग्राम' महरौनी मड़ावरा मार्ग पर सैदपुर से पश्चिम दिशा में 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यहां 12 वीं शती का सूर्यमन्दिर है। इसका शिखर ध्वस्त हो गया है, समतल वितान सुरक्षित है। तल छंद योजना की दृष्टि से गर्भगृह अंतराल तथा अर्द्धमण्डप था। इसमें अब अंतराल तथा अर्द्धमण्डप ध्वस्त हो गया है। चार स्तम्भ विद्यमान हैं, जिनमें एक सुरक्षित तथा तीन खण्डित हैं इसका प्रवेशद्वार कलात्मक है जिस सिरदल पर पद्मासन सूर्य विराजमान हैं दोनों ओर क्रमशः नवग्रह तथा सप्तमातृकायें हैं प्रवेशद्वार के अधोवर्ती भाग में मकर वाहिनी गंगा तथा कूर्मवाहिनी यमुना अंकित है। गर्भगृह में उदीच्यवेषधारी सूर्य की 1.8 मीटर ×.9 मीटर माप की स्थानक प्रतिमा है। जो ऊँचा किरीट मुकुट, कर्णकुण्डल, ग्रेवेयक तथा कण्ठहार धारण किये हुये हैं। चोलक तथा उपानह पहने हैं। दोनों खण्डित भुजाओं पर लहराता उत्तरीय है। पाद पीठ पर दांये बांये राज्ञी, निभुक्ष, नीचे भूदेवी तथा सूर्यदेव के दोनों पार्श्वों में दण्ड पिंगल है। अलंकृत प्रभामण्डल है।[16]

ललितपुर जिले के सीरोन खुर्द से एक कलात्मक शिलाखण्ड प्राप्त हुआ था जिस पर सूर्य, अन्य नवग्रह कार्तिकेय तथा विष्णु अंकित है। यह शिलाखण्ड राजकीय संग्रहालय लखनऊ में संग्रहीत है (सं.सं. 81.198) इस शिलाखण्ड पर सूर्य सात घोड़ों वाले रथ पर विराजमान है। कंधे तक उठे हुये दोनों हाथों मे सनाल कमल लिये, सिर पर अलंकृत मुकुट, पीछे प्रभामण्डल, ग्रैवेयक, कुण्डल, अलंकृत ऊँचे उपानह, उत्तरीय तथा अधोवस्त्र धारण किये हुये हैं। बांयी ओर तलवार, ढ़ाल लिये दण्ड तथा दाहिनी ओर पिंगल है। सूर्य के पैरों के मध्य ध्यानमुद्रा में महाश्वेता की छोटी मूर्ति है। रथ पर घोड़ों की लगाम पकड़े सारथी अरुण बैठे हैं। यह शिलाखण्ड खण्डित है, जिससे प्रतीत होता है कि लता–बल्लरी से अलंकृत शिलाखण्ड के आगे अन्य देवता भी रहे होंगे।[16क]

झांसी जिले में, झांसी खजुराहो मार्ग पर बरवासागर से पहले दांयी ओर 'जरायमठ' नामक एक स्थान है। जड़ाऊ मूर्तियों सा अलंकृत यह मन्दिर भव्य कलात्मक एवं पुरातत्व की अमूल्य धरोहर है। इसमें वर्तमान में कोई देव प्रतिमा प्रतिष्ठित नहीं हैं मुख्य

देव को लेकर मतभिन्नता है। प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी इसे शिवपार्वती मन्दिर मानते हैं वो डा. एस. डी. त्रिवेदी शक्ति मन्दिर मानते हैं जनश्रुतियां तथा डा. के.पी. त्रिपाठी भी इसे 'सूर्य मन्दिर' मानते हैं अतः हम इसका उल्लेख यहां कर रहे हैं पंचाचतन शैली में निर्मित इस मंदिर का पूर्वाभिमुखी केन्द्रीय मन्दिर अभी सुरक्षित है। दो उपमन्दिर भी अभी सुरक्षित है। गर्भगृह के ऊपर शिखर शैली की क्षिप्त वितान का सुन्दर संयोजन हैं मन्दिर की बाहरी दीवारों पर अलंकृत मूर्तियां उकेरी गई हैं। प्रवेश द्वार के दोनों ओर मच्छप आरूढ़ यमुना हैं। नीचे अष्ट दिक्पालों की मूर्तियां हैं।

जालौन जिले के जालौन कस्बे में भी एक सूर्यमन्दिर है। इसमें संगमरमर की सूर्य प्रतिमा है। मंदिर पुनः निर्मित है। तथा मूर्ति भी लगभग दो शती पुरानी प्रतीत होती है।

टीकमगढ़ जिले (म.प्र.) में मुख्यालय से 16 किलोमीटर उत्तरपश्चिम में स्थित एक ग्राम है–मड़खेरा। यहां गांव के दक्षिणपूर्व में लगभग तीन फुट ऊँची प्रस्तर पीठिका पर एक पूर्वाभिमुखी सूर्य मन्दिर है। मंदिर का अधिष्ठान, वेदिबंध तथा सूर्य ढांचा लाल बलुआ पत्थर का है। वर्गाकार खण्ड का शिखर मेरु के आकार का है। सामने एक सिंह है, जिसके दो पैरों के नीचे हाथी दबा हुआ था, जिसे मूर्ति चोरों ने चोरी के इरादे से नीचे उतार लिया था, वह इसे ले नहीं जा सके तत्पश्चात इसे मंदिर के पीछे एक घर में रख दिया गया है। गर्भगृह के आगे दो अलंकृत स्तम्भों पर अर्द्धमण्डप बना है, इसकी छत पर पूर्ण विकसित कमल उकेरा गया है। मण्डप चतुरस्त्र तथा तीन ओर से खुला हुआ है। स्तम्भ के सिरे पर कलश तथा लताबल्लरियां बनी है। अलंकृत प्रवेशद्वार है। जिसके दाहिनी ओर मकरारूढ़ा गंगा तथा बांयी ओर कच्छपरूढ़ा यमुना हैं। गर्भगृह में सामने ही सूर्य की सप्ताश्वरथारूढ़ पद्मपीठ पर प्रतिष्ठित आदमकद स्थानक प्रतिमा है। जिसकी ऊँचाई 4 फुट 7 इंच है। पीछे प्रभामण्डल है। सिर पर मुकुटकिरीट, कर्णकुण्डल, कण्ठहार, कटिमेखला है। भारतीय वेष धोती तथा उत्तरीय धारण किये हुये हैं। भुजाओं में अंगद सुशोभित हैं। पैर खण्डित हैं किन्तु उंगलियां न दिखने से 'उपानह पहने होंगे' ऐसा अनुमान किया जा सकता है। दोनों ओर उनकी रानियां राज्ञी तथा निभुक्षा एवं दण्ड पिंगल हैं। मंदिर के भीतर तथा बाहरी दीवारों पर सूर्य एवं अनेक देव प्रतिमायें हैं। लोकवार्ता के संपादक स्व0 कृष्णानन्द गुप्त इसे गुप्तकालीन मानते हैं[17] जबकि परिष्कृत मूर्तिशिल्प प्रतिहारकालीन प्रतीत होता है।

टीकमगढ़ जिले में एक स्थान है ऊमरी जो टीकमगढ़ से बरास्ता बड़ागांवधसान सौंजना मार्ग, लगभग 82 किलोमीटर दूर है। यहां लगभग दो मीटर ऊँची पीठिका आयताकार पीठिका पर नागर शैली का प्रतीहारकालीन सूर्यमन्दिर है। यह पूर्वाभिमुखी है। तल छंद योजना में, मड़खेरा की भांति गर्भगृह, अंतराल तथा अर्द्धमण्डप है। अर्द्धमण्डप के सामने दो कलात्मक स्तम्भ है। इन पर पत्र युक्त कलश एवं वादकों की प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं पीठिका से दो सीढ़ी ऊँचाई पर चढ़कर अर्द्धमण्डप है। प्रवेशद्वार अलंकृत एवं आकर्षक

है। सिरदल से मध्य में द्विभुजीसूर्य, सनालकमल पकड़े हुये हैं। प्रवेशद्वार के बांये किनारे पर पांच पंक्रियों का एक खण्डित अभिलेख है। गर्भगृह में सप्तअश्वारूढ़ भगवान सूर्य की खड्गासन प्रतिमा प्रतिष्ठित हैं सिर पर मुकुट किरीट, कर्णकुण्डल, कण्ठद्वार, कटिमेखला, एवं यज्ञोपवीत धारण किये हुये हैं दोनों खण्डित भुजाओं पर उत्तरीय लहरा रहा है। पैरों में उपानह धारण किये हुये हैं। दोनों ओर राज्ञी निभुक्षा तथा दण्डपिंगल विराजमान हैं। सूर्य के दोनों पैरों के मध्य भूदेवी हैं। इसके निकट हनुमान की आदमकद प्राचीन मूर्ति है।

टीकमगढ़ जिले के दो अन्य मन्दिरों का उल्लेख डा. के.पी. त्रिपाठी ने नारायणपुर एवं बनारसी ग्रामों में होने विषयक किया है किन्तु वह मन्दिर अब ध्वस्त हो चुके हैं।

सागर जिले में रेहली नगर, सागर से दक्षिणपूर्व में 40 किलोमीटर दूर स्थित है। सोनारनदी के दोनों तटों के किनारे बसा यह नगर प्राचीन एवं ऐतिहासिक है। इस नदी के बांए तट पर भग्नदुर्ग पढरीनाथ मन्दिर तथा प्राचीन सूर्यमन्दिर हैं। आठवीं नवीं सदी के ध्वस्त इस मंदिर का पुनर्निर्माण 18 वीं शती में मरहठा शासकों के समय में हुआ है। पास में पड़े अवशेषों तथा पुनर्प्रयुक्त सामग्री देखकर यह अनुमान लगाना सहज ही है कि इस सूर्य मंन्दिर के निकट, शिव,विष्णु, तथा सूर्य के मन्दिर रहे हैं और उनकी भवन सामग्री का इस मंदिर के पुनर्निर्माण में पर्याप्त उपयोग हुआ है। तथापि यह प्राचीन सूर्य मन्दिर के नाम से ही जमा जाता है।

वर्तमान सूर्यमन्दिर लगभग डेढ़ फुट ऊँची पीठिका पर बना है। इसका प्रवेशद्वार अलंकृत है जिसके सिरदल पर सुन्दर नटराज प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इससे यह अनुमान है कि यह हिस्सा किसी शिवमन्दिर से लाकर यहां प्रयुक्त हुआ है। दांये बांये पार्श्व में कच्छप वाहिनी यमुना तथा मकरवाहिनी गंगा के अतिरिक्त द्वार पार्श्व लतावितान आदि से अलंकृत हैं। मन्दिर के वर्गाकार गर्भगृह में प्रमुख देवस्थान पर भगवान सूर्य की स्थानक प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सूर्य के दोनों ओर एक एक विष्णु की प्रतिमा स्थापित है। सूर्यप्रतिमा द्विभुजी है। दोनों हाथों में सनाल पद्म हैं। किरीटमुकुट, मकरकुण्डल, कवर, केयूर, केकड़, वक्षबंध ा, यज्ञोपवीत कटिसूत्र, उत्तरीय तथा उपानह धारण किये हैं। पीछे अलंकृत अण्डाकार प्रभामण्डल हैं सूर्य के दांयी ओर कलम पकड़े पिंगल तथा बांयी ओर खड्ग लिये दण्डी अंकित हैं। इसी पंक्ति में भीतर की ओर क्रमशः दांये बांये निभुक्षा एवं राज्ञी हैं। मूर्ति का माप 1.30 मीटर× .80 मीटर है। काल 9वीं 10 वीं शती है।[18]

छतरपुर जिले में चार सूर्य मन्दिर मिलते हैं इनमें खजुराहो में चित्रगुप्त सूर्यमन्दिर विश्वविख्यात मन्दिरों की श्रृंखला में है। यह निराधार प्रासाद है। तल छंद योजना की दृष्टि से गर्भगृह, अंतराल, महामण्डप तथा अर्द्धमण्डप है। इसके गर्भगृह में 5 फुट आठ इंच ऊँची सूर्य की स्थानक प्रतिमा प्रतिष्ठित है। शैली की दृष्टि से मंदिर निर्माण तिथि 1000–1025 ई. के बीच की मानी गई है।

छतरपुर जिले के मऊ–सहानियां में भी एक सूर्य मन्दिर होने का उल्लेख मिलता है।[19] श्री त्रिपाठी ने छतरपुर नगर के सर्किट हाउस के पीछे भी एक प्राचीन सूर्यमन्दिर होने

का उल्लेख किया है।[20]

भिण्ड जिले के भरौली ग्राम में एक मध्यकालीन सूर्यमन्दिर[21] का पता चला है। इसी जिले के मिहौना ग्राम में एक प्राचीन सूर्यमन्दिर 'बालाजी मन्दिर' के नाम से है किन्तु यह लगभग दो शती पुराना प्रतीत होता है। यह संभवतः मराठा शासकों के समय पुनः निर्माण कराया गया है।

शिवपुरी जिले के टोंगरा ग्राम में अनौखी बनावट के दो सूर्यमन्दिरों की जानकारी सर्वेक्षणों के माध्य से प्राप्त हुई है। इन्हें मध्यकालीन आंका गया है। इसी जिले के सेसई ग्राम में 10 वीं सदी के सूर्य मन्दिर की सूचना मिली है।[21]

ग्वालियर जिले के आलमपुर में मध्यकालीन सूर्यमन्दिर हैं, इसे भी 'बालाजी सूर्यमन्दिर' के नाम से जाना जाता है।

उक्त सूर्य मन्दिरों के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर सूर्य की रथारूढ़ आसन एवं स्थानक प्रतिमायें मिली है। कुछ वर्षों पूर्व उ.प्र. राज्य पुरातत्व सर्वेक्षण (झांसी इकाई) द्वारा किये गये सर्वेक्षण में ललितपुर जिले के वैदपुर (महरौनी विकासखण्ड)में गांव के टीले के पार्श्व में बड़े प्रस्तार फलक पर 1.8मीटर ऊँची रथारूढ़ सूर्य की विशाल प्रतिमा मिली है, जिसका काल 11वीं सदी अनुमान किया गया है। इसी जिले के जखौरा ब्लाक के दैलवारा ग्राम में शिवमन्दिर की एक रथिका में सप्तअश्वरूढ़ सूर्य की प्रतिमा (माप .28 मीटर×.30मी) प्रतिष्ठित होने की जानकारी मिली है। इसी जिले के ग्राम सीरौन खुर्द में चीरादार बउआ नामंक स्थान के धोबन बउआ देवस्थान पर सर्वतोभद्र स्तम्भ के अधोभाग में सूर्य का स्थानक रूपांकन मिला है। इसी जिले के ग्राम सिरसी में बूचीमाता, रमेसरा तथा सलावन ग्रामों में सूर्य की उदीच्यवेषधारी स्थानक प्रतिमायें प्राप्त हुई है।[22] जिला जालौन के कालपी नगर में लंकामीनार परिसर में बने दक्षिणात्म शैली के चित्रगुप्त मंदिर में नवग्रह मूर्तियों के साथ सूर्य की सुन्दर प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

झांसी सग्रहालय में महोबा से 10वीं–12वीं सदी की रथारूढ़ द्विभुजी सूर्य की प्रतिमा क अतिरिक्त तीन अन्य प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं।[23]

मध्यप्रदेश राज्य पुरातत्व द्वारा कराये गये उत्खनन एवं सर्वेक्षण से अनेक सूर्य प्रतिमाओं की जानकारी प्रकाश में आई है। यह सभी 10 से 12 वीं सदी के मध्य की हैं। इनमें जबलपुर जिले के पनागर तथा भेड़ाघाट (चौंसठजोगिनी मंदिर) नरसिंहपुर जिले के बरहटा, गुना जिले के सकर्रा तथा खजुराहो के आठ मंदिरों में सूर्य की दुर्लभ प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं।[24] इनके अतिरिक्त नवग्रह पट्टों तथा सती स्तम्भों में सूर्य की प्रतिमा तथा प्रतीक चित्रांकन सैकड़ों स्थानों पर मिलता है। उल्लेखनीय है कि बुन्देलखण्ड में सती स्तभ्म बहुतायत से प्राप्त होते रहते हैं। अनेक स्थानों पर सूर्यकुण्ड भी मिले हैं, जिनके निकट प्राचीन सूर्य मन्दिर रहे होंगे– ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में बुन्देलखण्ड में सूर्योपासना की सशक्त परंपरा थी तथा 5 वीं सदी से 12वीं सदी नक सूर्यमन्दिरों एवं प्रतिमाओं का प्रचुर मात्रा में निर्माण हुआ।

वर्तमान काल में इस अंचल में सूर्यपूजा की सशक्त परंपरा बुन्देलखण्ड के लोक जीवन में प्राप्त हुये हैं प्रत्येक रविवार को अनेक व्यक्ति सूर्यपूजा एवं व्रत करते हैं। सूर्यपूजा का प्रमुख पर्व मकर संक्रान्ति 'बुड़की' के नाम से उल्लासपूर्वक तीन दिनों तक मनाया जाता है। उल्लेखनीय है कि इस अंचल में दीवाली तथा होली को छोड़कर केवल बुड़की ऐसा पर्व है जो तीन दिनों तक व्यापक रूप से मनाया जाता है। इसमें प्रथम दिन मकर संक्रांति के एक दिन पूर्व "तिलैंया" मनाते हैं इस दिन तेल तथा तिल से बने विविध व्यंजन (पकवान्न) बनाने एवं खाने की परंपरा है। दूसरे दिन 'संकरात' मनाते हैं। इस दिन किसी तालाब या नदी पर जाकर शरीर पर तिल मलकर स्नान करने एवं सूर्य पूजा के उपरान्त तिल तथा खिचड़ी दान करने की परंपरा है। गांवों में संक्रान्ति के दनि बैलगाड़ियों में बैठकर नरनारी बालक –वृद्ध निकट की किसी नदी, तालाब, सूर्य मंदिर या सूर्यकुण्ड पर जाते हैं, बैलों को सजाया जाता है। उन पर कशीदाकारी की गई झूलें डाली जाती है। बैलगाड़ियों की दौड़ प्रतियोगितात्मक होती है। तीसरे दिन 'भंवरात' मनाई जाती है। इस दिन छप्पन प्रकार के व्यंजन (पकवान) बनाये जाते हैं। रात में वाहनों के प्रतीक मिट्टी से बने वाहन खिलौनों की पूजा की जाती है। इनमें हाथी, घोड़ा, गड़िया (बैलगाड़ी या भैंसागाड़ी) की पूजा करते हैं इन सभी में चार चार पहिये लगे होते हैं। इनमें 'गौने' रखकर उनमें पकवान भरते हैं। गौनों की संख्या परिवार के सदस्यों की संख्या के बराबर होती है। पकवानों में अनेक तरह के लड्डू यथा मूंग, सफेद तिली, खील, लइया, देवल, रामदाना आदि के लड्डू नमकीन खुरमा मीठे खुरमा सेव मठरी, पपड़िया आदि आदि होते है। घर के पूजागृह में गोबर से लीपकर उस पर आटा का चौक पूरकर उसके ऊपर लकड़ी का इतना बड़ा पाटा रक्खा जाता है। कि परिवार के सदस्यों की संख्या के समतुल्य मिट्टी या धातु के बने हाथी, गड़िया, आदि रक्खे जा सकें। इन खिलौनों पर 'गौनें' कसकर उनमें व्यंजन भरकर रात्रि में घर पर बड़ा बालक इनकी पूजा करता है। बालक के अभाव में घर की सयानी महिला पूजा करती है। इनमें से जितने बालक बालिकायें होती हैं। उतनी गौंने लदे वाहन खिलौने अगले दिन प्रभात में बालक बालिकाओं को दे दिये जाते हैं। वह इन वाहन खिलौनों को पट्टिओं के सहारे खींचते हुए किसी बाग में या गांव के बड़े चबूतरे पर ले जाते हैं गांव के सभी बालक वहीं एकत्र होते हैं तथा परस्पर मिलबांटकर उन व्यंजनों एवं पकवानों को खाते हैं। घर पर बची शेष गौंने, व्यंजन सहित सुरक्षित रख दी जाती है। उन्हें अगली 'बंसतपंचमी' के दिन खाली किया जाता है तथा पुनः पूजा करके गौनों में रक्खे व्यंजन परिवार के सदस्य मिल बांटकर खाते हैं। खाली गौने सुरक्षित रख ली जाती हैं। ताकि अगली भंवरात पर काम में आवें।

इसके अतिरिक्त माघ माह में सूर्यपूजा का विशेष लोक–पर्व होता है। माघ माह के अंतिम रविवार को सूर्यपूजा की जाती है। इसके लिये खुले आंगन या घर के बाहर चबूतरे पर गोबर से लीपकर उस पर गेहूं के आटा से गोलाकार चौक पूरा जाता है। उसके केन्द्र के आटे से बनी अठवाई (छोटे आकार की पूड़ी) वृत्ताकार सजाते हैं तथा बीच में गोल

कटोरी में खीर रखते हैं। यह रचना सूर्य की तरह बन जाती है। उसका पूजन करके खीर अठवाई का प्रसाद बांटा जाता है। कहानी कही जाती है।[25]

इस प्रकार लोक जीवन में सूर्य पूजा के विविध स्वरूप प्रचलित हैं। बुन्देलखण्ड की संस्कृति तथा परंपराओं के अनुशीलन के लिये इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी समझना आवश्यक है।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 8/47/4
2. अथर्ववेद 9/8/22
3. मदनमोहन वैद्य– हनुमत साधना–सूर्यअंक, संपादक– पृ. 40,
4. डा0 सुरेश प्रत राय– सूर्य पूजा की व्यापकता कल्याण सूर्य अंक पृष्ठ 410
5. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी– भारतीय पुरातत्व में सूर्य (कल्याण, सूर्यअंक पृष्ठ 423)
6. (राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त)– भारत भारती – – – – पृष्ठ 31 40 वां सस्करण
7. आचार्य बल्देव उपाध्याय,– सूर्य पूजा की परंपरा और प्रतिमाऐं कल्याण सूर्य अंक पृष्ठ 414,
8. हरिमोहनलाल श्रीवास्तव श्रीबालाजी : देवों में देव पृष्ठ 29,
9. दतिया जिला गजेटियर, पृष्ठ– 310,
10. डा. काशीप्रसाद त्रिपाठी बुन्देलखण्ड और सूर्योपासना (उड़ान स्मारिका पृष्ठ 26)
11. सान्निध्यं पूर्वान्हे, सुतीरे द्रक्ष्यते जनः।
    कालप्रिये मध्यान्हे, पराहणे चात्र नित्यशः।।
    पं.जानकीनाथ शर्मा– भारत के अत्यंत प्रसिद्ध तीन प्राचीन सूर्य मंदिर कल्याण सूर्यअंक पृ.427
12. अयोध्याप्रसाद 'कुमुद'– कालप्रियनाथ सूर्यमन्दिर की खोजयात्रा (सप्तदल पृष्ठ 144)
13. जिला जालौन गजेटियर (1921) परिशिष्ट पृष्ठ 34
14. डा. वी.वी. मिराशी– प्राच्यविद्या निबंधावली भाग–4 पृष्ठ 77–78)
15. वासुदेव चौरसिया चन्देलकालीन महोबा और जनपद हमीरपुर के पुरावशेष–पृष्ठ 49)

15क डा. वीना विद्यार्थी एवं डा.सुरेन्द्र सिंह चौहान–विरासत

16. डा. अंबिकाप्रसाद सिंह– पुरातात्विक सर्वेक्षण रिपोर्ट (महरौनी, ललितपुर) पृष्ठ 20)

16क डा. वीना विद्यार्थी एवं डा.सुरेन्द्र सिंह चौहान–विरासत

17. कृष्णानन्द गुप्त– मड़खेरा का सूर्यमंदिर (टीकमगढ़ दर्शन–मंगलप्रभात, पृष्ठ 62)
18. जी.एल. रायकवार रहली का सूर्यमन्दिर पृष्ठ 14–15
19. डा. राजकुमार शर्मा मध्यप्रदेश के पुरातत्व का संदर्भ ग्रंथ पृष्ठ357
20. श्री सावलिया– वैदिक सूर्य का महत्व और मंदिर तथा कल्याण सूर्य अंक – पृष्ठ 417
    श्री सावलिया बिहारीलाल जी वर्मा वैदिक सूर्य का महत्व और मंदिर बुन्देलखण्ड और
    डा. के.पी. त्रिपाठी सूर्योपासना (उड़ान, पृष्ठ 26)
21. डा. राजकुमार शर्मा म.प्र. के पुरातत्व का संदर्भ ग्रंथ पृष्ठ 358
22. डा. अंबिकाप्रसाद सिंह– पुरातात्विक सर्वेक्षण रिपोर्ट (महरौनी)तथा (जखौरा) (पृष्ठ क्रमशः22,31, 32)
23. रमाशंकर– बुन्देलखण्ड की कतिपय सूर्य प्रतिमायें (दी ग्लोरी दैट वाज बुन्देलखण्ड पृष्ठ387)
24. डा. राजकुमार शमा– मध्यप्रदेश के पुरातत्व का संदर्भ ग्रंथ पृष्ठ 357 एवं 358
25. अयोध्याप्रसाद गुप्त, 'कुमुद'– 'सूर्यपूजा'– बुन्देलखण्ड का लोकजीवन पृष्ठ 64

•

बुन्देलखण्ड का सांस्कृतिक स्वरूप

बुन्देलखण्ड के सांस्कृतिक परिवेश को समझने के लिए आपको कहीं जाना नहीं पडेगा। यहां बुन्देली लोकगीतों का जो अक्षय भण्डार बिखरा पड़ा हैं उसमें यहां की संस्कृति का स्पष्ट चित्र मिलता है। यहां के जन–जीवन, आचार–व्यवहार, धर्म, उपासना, रीति–रिवाज आदि का जो रूप लोकगीतों में अभिव्यक्त हुआ है। वही यहाँ का वास्तविक परिवेश है। अतीत काल में उन्हीं लोकगीतों की लय में यहां बुन्देली बालाओं

ने अकती के ब्याह रचाये हैं, नैनों से नीर बहाकर बेतवा की जलधारा को प्रेयसी के अध रों से भी अधिक मधुर बनाकर महाकवि, कालिदास की आंखों में अश्रु भर आये हैं, विरहणियों ने हृदय बहलाये हैं और बुन्देली रणबांकुरों ने अपने शौर्य से शत्रु के छक्के छुड़ाये हैं। गीतों की उसी स्वरबेला में, उसी लोकसंगीत की तरंगों में यहां की संस्कृति का रूप युगानुरूप परिवर्तित होता रहा है।

लोकगीतों के यही रूप सैरे, राछरे, मल्हारें, सावन, बिलयारी, दिवारी, भजन,

फागें, सोहरे, गारी, रसिया, सुआटा, मामुलिया, गोटें अचरी कहरवा, धुबियायी आदि के गीत बनकर जनमानस में बिखर गये हैं। यहां हर अवसर पर हर माह यही गीत अधरों पर थिरक कर जनमानस को उद्वेलित करते रहे हैं। इन्हीं गीतों के भाव लोक मे यहां का सांस्कृतिक वैभव छिपा पड़ा है।

भारतीय दर्शन के विशाल ग्रन्थ जिस नश्वरता का सत्य बखान करते हैं वह वहां की अचरियों में कितनी शालीनता के साथ व्यक्त हुआ है।

"अमर तो नैयां मेरे सब कारीगर
जिन मेरो भवन बनाओ ओ मां
अमर तो नैयां मेरे पृथ्वी के बासुक
धरती कौ धरौ भार जिन पै ओ मां ।"

अतिथियों का विशेष सम्मान यहां की अपनी परम्परा है। अतिथि को देवता मानकर 'अतिथि देवो भव' को कल्पना यहां साकार होती है।

इस गरीब प्रदेश की एक और प्रथा है–स्वच्छता। सूर्योदय के पूर्व ही लीपापोती कर मकान को स्वच्छ बना देने की परम्परा यहां है–

"तिलके फूल तिली के दाने, सूरज ऊबे बड़े भुनसारे।
ऊरई न पाये बारे सूरज, सब घर हो गऔ लिपना पुतना।।"

इस प्रकार स्वच्छता से रहकर, अतिथियों को सम्मान देकर, संसार की नश्वरता को ध्यान में रखते हुय अपने कार्य में रत रहना यही यहां का जीवन दर्शन है।

आइये, यहां की नारी और देव उपासना से भी आपको परिचित करा दें। यह यहां की सुहागिन है। इसका रूप देखना हो तो यहां की ग्राम्यवाला के इन स्वरों को सुनिये–

मेरी गौर की आँय देखों काँय देखो,
पायन बिछिया देखो,
हाथन कंगना देखो, नाक नथुनियों देखों,
माथन बिंदिया देखो, हाथन चुरियां देखों।

और बुन्देलखण्ड की यह सधवा नारी अपने पति के साथ, मां–बाप के सामने बात करने में संकोच करती है–

"नजर से औलट तो हो जैयो
औलट तो हो जैयो,
मोरे खड़े मताई उर बाप हो।"

किन्तु यह संकोच और मर्यादा सिर्फ मां–बाप के सामने है। पति के साथ रहने पर तो वह बांह पकड़ने का निर्वाह भी चाहती है–

"निकरौ गै के बैयां हो,
गै के बैयां हो,
गंहे की रखियो लाज हो।"

किन्तु इस बांह पकड़ने का निर्वाह वह स्वयं भी करना चाहती है। अपनी प्रतिष्ठा, अपना सम्मान वह सब कुछ दांव पर लगा देना चाहती है। सीधे–साधे पति का कोई परेशान

न करे इसलिये वह अपने नयन भी गिरवी रख देना स्वीकार करती है–

"हमाये बलमां से जिन बोलो, ररियाँ हमसे करलेउ ,
हमाये तीन रती भर नैना, कोऊ गानें धर लेऔ।"

और अपने पति को देवता मानकर यहां की नारी उसी को अपना सर्वस्व मान लेती है। पति का घर उसका अपना घर हो जाता है। परन्तु त्यौहारों पर हर लड़की अपने मैके जाना चाहती है। वह चाहती कि यहां कि मुख्य पर्वो पर वह अपने भाई के साथ जाकर मैके में रहे। मां से विदा लेते समय उसकी करूणा इन शब्दों में व्यक्त होती है–

"मोरी मइया भूल न जइयो, जल्दी बुलइयो मोरे लाल
सावन, होरी और दिवारी भइया बेग पठइयो मोरे लाल
मिले सवारी जो न भइया, भइये रिगत पठइयों मोरे लाल।"

हिन्दू धर्म में देवता तैंतीस करोड़ हैं। सब मान्य हैं, परन्तु यहां की अपनी परम्परायें हैं। बुन्देलखण्ड के क्षेत्र में हरदौल, शारदा,भवानी और कालका प्रसिद्ध लोकदेवता है। इनमें हरदौल, शारदा और भवानी तो हर जगह मिलेंगे।देखिये निम्न लोकगीत में यहां की उपासना का स्वरूप और स्थान कितनी सत्यता के साथ व्यक्त हुआ है–

"पहले मनाओ देवी शारदा रे हो मां
दूजे लाला हरदौल भवानी मइयां।"
मंदिर ठहरे देवी शारदा मैया
बागन लाला हरदौल भवानी मैया।

और फिर इन्हीं आराध्यों से यहां का हर व्यक्ति अपने ह्रदय की आकांक्षा पूरी करने का वरदान मांगता है। यहां भवानी मां की अर्चना में उसके दयालु होने की प्रार्थना कर रही है–

"घरैई में सैंया मौसों बांझ कहत है। बांझ को भाव मिटा देहो मां
दूध पूत मैया तेरे दये पावें, बारी हो जाय दयाल हो मां।"

अब आइये, यहां के भोजन आदि देखिये। यहां भोजन दावतों में और भोजों में पात्रों में नहीं वन पत्रों पर परोसा जाता है। भोज को ज्योनार कहते हैं। पात्र कैसे है ?

"महुआ की पातर, छैवले के दौना
सो सोने की सींक सम्हारियो,
राधा ज्योनार बनाओ।"

और अब यहां के भोजन का आंनद लीजिये। मिरजापुरी यहां का बहुप्रचलित भोजन है। यह भोजन ? देखिए–

"आतर परसी, पातर परसी, परस दई दुनियां
निबुआ परसे, अथाने परसे, परसे दई अमियां
भटा परसे, रतालू परसे, परस दई घुईयां
पूरी परसी, कचौरी परसी, परसी मिरजापुरियां"

यह यहां का भोजन है। कच्ची रसोई का आनंद तो बस शादी–ब्याहों तक रह गया है। यहां के कच्चे भोजन को स्वाद से खाते हुये बरातियों को देखकर औरतें व्यंग्य

बाण छोड़ती हैं–

कढ़ी को दौना बगर गऔ तौ तब कैसौ लगौ तौ
कढ़ी पकौरी बूरौ भसक
मूंछन पैं चाउँर की चिपकी ठसक,
बाबा जी हमाये राम जी लला।

यहाँ मिठाइयों में मंसूर और रसमलाई नहीं मिलती है क्या मिलता है देखिये–

"कहाँ कौ जा रहे भैया का ल्याओ
जाओ भैया बजार जाऔ भैया बजार
लड्डू , पेड़ा, सरल जलेबी, कलाकंद की अजब बहार।"

तो यह यहां की मिठाइयां थीं, भोजन था। अब आइये जन्म से लेकर मनाये जाने वाले संस्कारों से परिचित कराया जाय। जब बच्चा गर्भ में पूर्ण परिपक्वास्था में हो जाता है। तब सादें मनाई जाती हैं। उसके बाद जब बच्चा होता है, तब–

"आज दिन सोने को महाराज
गईया को गोबर मंगाओ बारी सजनी
ढिंग दे आंगन लिपाओ महाराज
मुतियन चौक पुराओ बारी सजनी
कंचन कलश धराओ महाराज।"

देखा–शिशु जन्मते ही आंगन में ढिंग (किनारी) देकर लिपाई होती है, चौक पूर कर कलश रक्खा जाता है। सोहरे के गातों के साथ बिसवार के लड्डू बनना शुरू हो जाते हैं–

"भोर भये भुनसारे ललन प्यारे हो गये
सुनों राजे रे महाराजा रे ल्याऔ सौठ विसवार
लड्डू बंधाओं, तुम बांधौ हम खायं ललन हमारे हो गये।"

बच्चे का जन्म का समाचार पाकर जच्चा की ननद फूली नहीं समाती-

"बाजे बाजे बजाये, आज बहू के ललन भये
ललन भये अति प्यारे भये
मोरी भौजी के ललन भये

लेकिन बच्चे की बुआ की इस खुशी का कारण क्या है ? उसे नेग जो मिलता है–

"मांगे ननद रानी ककना ललन के भये कौ
मांगे बुआ रानी ककना ललन के भये कौ।"

और शिशुजन्म के छैः दिन बाद छठी, दस दिन बाद दस्टौन, एक माह बाद कुआँ पूजन होता है। कुआँ पूजन के दिन जच्चा प्रसव के बाद पहिले दिन घर के बाहर कुंये पर जाकर पानी भरकर कलश सिर पर रखकर घर आती है। देवर दरवाजा रोक कर नेग लेकर कलश दरवाजे पर उतारकर भाभी को घर में प्रवेश कराता है। औरतें गाती हैं–

"फुल बगिया हो, राजा बरसै मेह,

गोरी भींज गई गलियन में।"

जब जच्चा कुआ पूजन को चलती है तो महिलायें एक स्वर में गाती है–

"ऊपर बादर घिर आये।
तरें गोरी पानी कों निकरी
जाय या कइयौ उन राजा ससुर सों
आंगन में कुइया खुदाऔ
तुमाई बहू पानी कों निकरी।"

इसके बाद जब शिशु 3–4 साल का हो जाता हैं तब मुण्डन होता है। इसे सोलह संस्कारों में स्थान दिया गया हैं। यह कब होना चाहिये–

"झालर जबई मुड़ाय हो, जब आजुल घर होंय
झालर मोरी पाहुनी।"

जब लड़का बड़ा हो जाता है तब उसका 'जनेऊ (यज्ञोपवीत) होता है। यज्ञोपवीत के तीन धागों में क्या हैं ? यहां की बुन्देली बालाओं से सुनिये–

"तीन तगा को डोरा री , दमरी कौ सूत ऐ मैया
तीन तगा की जनवारी, की मजबूत ऐ मैया
पैलें में विश्नू, दूजे में विरमा, तीजौ है सूत शंकर अवधूतं,
सुन हो मैया।"

यह तो बात थी लड़कों की। यदि लड़की होती तो वह क्या करती ? वैशाख में अकती खेलने जाती । गुड्डा–गुड़ियों के ब्याह रचाती और गाती–

"अकती खेलन कैसे जाऊँ री, बरतरैं मेले लिवौआ"

क्वांर में यहां की लड़कियां मामुलिया सजाती है। लड़की छोटी सी टहनी को फूलों से सजाकर जब गाती है तब उसका सौन्दर्य बोध देखते ही बनता है। देखिये उनके स्वर कानों से टकरा रहे है। वे गा रही हैं–

"चन्दा जू आ भैया, सूरज जू आ भैया
जे मोरे भैया लिवाउन जैहैं , चलाउन जैंहै।।"
और अब सुआटा गया। लड़के टिसुआ मांगते हैं। कहते हैं–
"टैसू झगड करें टेसू अगड़ करें
टेसू लेइकैं टरे।"

और कन्यायें शादी के दिन निकट आने की चेतावनी देते हुये क्वँारे जीवन की स्वतंत्रता को बखानते हुये गाती हैं–

"हिमाचल जू की कुंवर लड़ायती नारे सुअटा
साथ गौदा बाई मेरा तौरा
जैयो बेटी नौ दिना राने सुआटा।"
खेल लो बेटी खेललो, माई बाबुल के राज
जब ढुर जै हो बेटी सासरैं, जैहौ, सास न खेलन देय
रात पिसावों पीसनो, दिन में गुबरे की हेल
सूरज की मैया जो कहे नारे सुआटा।"

लीजिये यह सुआटा का आरती गीत है–

"झिलमिल झिलमिल आरती,
महादेव तोरी आरती।
को बऊ नौंनी, चन्दावल नौंनी, सूरजवल नौंनी
नौंनी तो नौंनी, भौंजी, सौत सलौनी
बिरन हमाये, भौजी कंत तुमाये।"

और इन्हीं "सुआटा" को खेलते हुये शादी होने का अवसर आ जाता है। तेल नजर उतारते हुये औरतें गाती हैं–

"मेरो बारौ बनां नजरानौं री, ऐसी शोभा चांदनी
आजुल बना के घरै जो नइयां
को तेरी नजर उतारे री,
राई नौंन सूत उगुलियां
आजी नजर उतारे री
भइयों बना की भोरी भारी,
जाजम पै पैठारे री।"

और इसके बाद विभिन्न नेगों के साथ सप्तपदी की परिक्रमा के बाद शादी संपन्न होती है। सप्तपदी का स्वरूप क्या है–

पहली भंवर जब फेरियो, बेटी अबै हमाई
दूजी भांवर जब फेरिया, बेटी जब अबऊं हमाई
सातई भांवर जब फेरिया, बेटी हो गइ पराई।"

ब्याह के समय तो लोकगीतों की भरमार होती है। हर नेग पर, हर अवसर पर गीत गाये जाते हैं। समधी, समधिनों और बरातियों को व्यंग सुनाये जाते हैं। और उसके बाद विदा हो जाती है–

"भीतर बिटिया सखी सजा रही
अँसुअन की बहे धार मोरे लाल"

और अश्रुधारों के बीच उसकी विदा हो जाती है। फिर वही क्रम उसके जीवन का चलता रहता है।

यहां के जनजीवन में सहयोग और सहकारिता की भावना देखना हो तो बिलवारी रामा सुनियेगा। सभी औरतें और आदमी काम करते करते एक स्वर में कहते हैं–

"घालौ घालौ रे धरम के हाथ
बेरा भई घर जावे की।"

उपभोक्तावाद के इस दौर में जीवन–पद्धति भले ही बदल जाये, यहाँ के लोकगीतों में यहाँ की संस्कृति युगों तक जीवित रहेगी।यहाँ की लोक संस्कृति का स्वरूप लोकगीतों के साथ लोकसाहित्य की अन्य विधाओं तथा लोकगाथाओं, लोककथाओं, कहावतों, मुहावरों, बुझौअल में भी देखने को मिलता है। बुन्देलखण्ड की विभिन्न लोककलाओं तथा शिल्पों में भी यहाँ का जीवन्त सांस्कृतिक स्वरूप देखने को मिलता है। इन लोककलाओं में लोकगायन, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोकचित्रकला तथा शिल्प प्रमुख हैं।

•

बुन्देलखण्ड की लोक कलायें एवं शिल्प

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन का लक्ष्य–पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति है। पुरूषार्थ में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष आते हैं। यह सभी अन्योन्याश्रित हैं। इसमें 'धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग की प्राप्ति से मोक्ष स्वतः प्राप्त हो जाता है। पद्मपुराण के अनुसार 'धर्मोदर्थो दर्थतः कामः कामार्द्धम फलोदयः' अर्थात् धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, और काम से धर्म के फल (आनन्द) का उदय होता है। भारतीय मनीषियों ने इस त्रिवर्ग के साध नभूत शास्त्रों की रचना की। इनमें मनु नें मानवधर्मशास्त्र' तथा बृहस्पति ने 'अर्थशास्त्र की रचना की, जिसका पुनर्संस्करण कौटिल्य–अर्थशास्त्र, के रूप में सामने आया।आचार्य नन्दी ने कामशास्त्र की रचना की। इसका संक्षिप्तीकरण मुनि 'वात्स्यायन नें कामसूत्रम्' के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार व्यक्ति को अपने शतायु काल में धर्म अर्थ और काम का संतुलित सेवन इस प्रकार करना चाहिये कि ये तीनों परस्पर संबद्ध भी रहें और एक दूसरे के बाधक भी न हों।

धर्म के अंतर्गत 'शिष्टपुरूषों के आचार को 'सदाचार (परमधर्म) बताया गया है। अर्थ को धर्म और काम का मूल निरूपित किया गया है, बिना अर्थ के धर्म और काम की प्राप्ति संभव नहीं है। 'काम' को 'रागात्मिका वृत्ति' अथवा 'मानस–व्यापार' माना गया है। अर्थात् प्रत्येक प्राणी जो कुछ करता है, उसके मूल में 'काम' का भाव है।'कामसूत्रम्' के प्रणेता मुनि वात्स्यायन ने 'काम' के उचित रूप में सेवन का विधान बताते हुये उसकी अंगीभूत चौंसठ कलाओं का निरूपण किया है। कामसूत्रम् के 'विद्या समुद्देश प्रकरण' में वर्णित हुए चौंसठ कलाओं को पांच वर्गों (1) चारू (ललितकलायें), (2) कारू (उपयोगी कलायें) (3) औपनिषिदिक कलायें (4) बुद्धि वैचक्षण्य कलायें तथा (5) क्रीड़ा कलायें, में विभाजित किया गया है। नृत्य, गीत, वाद्य, चित्रकला प्रसाधन आदि कलाओं को 'ललित कला' वर्ग में रक्खा गया है। वात्स्यायन ने इनमें सर्वोच्च स्थान गीत, नृत्य, वाद्य तथा चित्रकला (आलेख) को देकर इन सभी कलाओं में श्रेष्ठतम् माना है।

भरत मुनि ने में नाट्यशास्त्र' को इसी कोटि मे रक्खा है। इन कलाओं में निपुणता व्यक्ति के अभ्युदय और सर्वागीण विकास में सहायक है। जब इन कलाओं का विस्तार 'लोक' में सामूहिक अभिव्यक्ति के माध्यम से होता है तब यह 'लोक कलाये' उस समाज, क्षेत्र या लोक की सांस्कृतिक सम्पन्नता का उद्घोष करतीं हैं।

विन्ध्य पर्वतमालाओं के प्रांगण में बसा बुन्देलखण्ड ऐसा सांस्कृतिक क्षेत्र है जहां लोककला के विविध स्वरूप प्रचुरता से देखने को मिलते हैं। 'लोकगायन', लोकनृत्य' लोक नाट्य' तथा लोक चित्रकला' की शताधिक विधायें स्वतंत्र ग्रंथ का विषय हैं तथापि संक्षेप में इनमें से प्रमुख विधाओं का विवरण यहां प्रस्तुत है ।

(1) लोक गायन

अचरी गायन– अचरी या 'भगत' बुन्देलखण्ड में मां दुर्गा के स्तवन में गाये जाने

वाले लोक गीत हैं। शारदीय नवरात्रि, तथा बासंतिक नवरात्रि में घर में चेचक निकलने पर अथवा देवी की मनौती के अन्य अवसरों पर यह गीत गाये जाते हैं। देवी के भक्तों भैरव तथा लांगुर के गीत लांगुरिया कहलाते है। वह भी इसी कोटि में आते है ।वाद्य में ढोलक,नगड़िया झीका, मजीरा,लोटा तथा बांसुरी आदि का प्रयोग होता है।

आल्हा गायन – जगनिक के लोक काव्य 'आल्ह खण्ड' की लोकप्रियता सर्वविदित है। महोबा के आल्हा–ऊदल के चरित्र पर आधारित महोबा–शासक परमाल तथा पृथ्वीराज चौहान के बीच हुई 52 लड़ाइयों का वर्णन इस लोककथा में है। मूलतः यह बुन्देली का गाथा काव्य है किन्तु इसकी देशव्यापी लोकप्रियता के कारण क्षेत्रीय बोलियों में इसकी अनेक गायन–शैलियां विकसित हुई है, इनमें कन्नौजी ,बैसवाड़ी, ब्रज तथा बुन्देली शैलियां प्रमुख हैं। प्रमुख वाद्य ढोलक तथा मजीरा प्रयुक्त होते हैं।

राछरे/साउन – सावन के महीना में झूलों पर पैगें भरतीं महिलायें प्रायः राछरे कजरी सा साउन गाती हैं। साउन की रसभरी फुहारों के साथ यह गीत हर गांव गली में सुने जा सकते हैं। राछरे में प्रायः 'अमान सिंह का राछरा' नामक लोक गाथा अथवा कुछ अन्य के अंश गाये जाते हैं। प्रमुख वाद्य ढोलक मजीरा, आदि प्रयोग होता है।

तमूरा भजन – तमूरा (इकतारा) पर पारंपरिक शब्द बानी, भजन, कबीर पंथी भजन अथवा धार्मिक चरित्रों पर आधारित लोकगाथायें गाने की परम्परा अब विलुप्तोन्मुख है ।प्रमुख वाद्य तमूरा ढोलक कांसी झीका तथा चंग हैं ।कहीं–कहीं लोक भजन या चरित्र सुनकर लोग नृत्य भी करते हैं।

ढिमरया राग – ढीमर जाति के परंपरागत लोक गीतों का ही नाम ढिमरिया राग है। प्रमुख वाद्य खंजरी , लोटा, नागड़िया, ढोलक, तुरही प्रयोग होतेहैं।

संस्कार गीत – बुन्देलखण्ड में शिशु जन्म के पूर्व से मृत्यु तक सोलह संस्कारों द्वारा व्यक्ति को संस्कारित करने का लोकविधान हैं। प्रत्येक संस्कार के अवसर पर गीत गायन की परंपरा है। इनमें 'शिशु जन्म तथा विवाह ' संस्कारों के विभिन्न चरणों में महिलाओं द्वारा गीत गायें जाते हैं। कहीं–कहीं इन गीतों के साथ नृत्य का भी विधान है। वाद्य ढोलक, रमतूला तथा कसेरू, प्रयुक्त होते हैं।

श्रृंगार गीत – बुन्देली लोक साहित्य में श्रृंगार गीतों की समृद्ध परंपरा है। इन गीतों में प्रेमी मन के सहज भावों की अभिव्यक्ति मिलती है।

गोट – पशुपालक जातियों द्वारा पशुरक्षा के निमित्त प्रार्थना के लिये लोक देवता कारसदेव, मैकासुर या हीरामन के चबूतरों पर उन्हें प्रसन्न करने के लिए 'गोटें' गाई जाती हैं। यह लोकगाथा के रूप में होती हैं। प्रमुख वाद्य, ढांक मजीरा, झींका, कसेरू, तथा नगड़िया प्रयोग होते हैं।

फाग–गायन – बुन्देलखण्ड में बसंत ऋतु में फड़ों पर फाग गायन की लोकपरंपरा है। इसमें ईसुरी तथा अन्य कवियों की चौकड़िया या छंदयाऊ/सखियाऊ फागें गाई जाती हैं ।इनके वर्ण्य विषय श्रृंगार भक्ति तथा नीति आदि होते हैं।

ख्याल लावनी – बुन्देलखण्ड की फड़बाजी में ख्याल तथा लावनी विशेष

लोकप्रिय हैं।ख्याल का अर्थ है 'विचार–यह खेल के रूप में, गीत शैली में प्रतिस्पर्द्धात्मक होते हैं।'लावनी' का अर्थ है–'सलौनी' यानी रूचिकर (मनोहर)। इस प्रकार ख्याल लावनी दो गुटों में सरस का जबाबी गायन है। इसमें दो गायन संप्रदाय 'कलगी' –तथा 'तुर्रा' होते हैं।इन दोनों संप्रदायों के बीच जबाबी गायन–प्रतियोगिता होती है। प्रमुखवाद्य ढपली है।

कछयाऊ गारी – काछी जाति के पुरूषों तथा महिलाओं द्वारा विभिन्न अवसरों पर यह लोक गीत गाये जाते हैं। साथ में नृत्य भी होता है। वाद्य में रमतूला, नगड़िया, ढोलक, खंजरी झींका, मजीरा ,कसेरू आदि प्रयुक्त होते हैं।

कहरी लोकगीत– यह लोकगीत वर्षा ऋतु में गाये जाते हैं तथा बुन्देली की उपबोली बनाफरी में प्रचुरता से मिलते हैं। इनमें श्रृंगार की प्रधानता और रसमयता हैं। यह गीत महिलाओं द्वारा हाथ चक्की पीसते समय अथवा खेतों में कृषि कार्य करते समय गाये जाते हैं। यह जंतसार गीतों' की कोटि में गिने जाते हैं। इनके साथ वाद्य प्रयुक्त नहीं होते हैं। चूड़ियों की खनखनाहट तथा हवा की सरसराहट इनके प्राकृतिक वाद्य हैं।

रामानन्दी संप्रदाय के भजन–इन के भजनों की व्यापक परंपरा इस क्षेत्र में विशेषकर 'चित्रकूट' में पाई जाती है। आध्यात्मिकता का पुट लिये यह भजन तन्मयता और एकाग्रता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इनके साथ ढोलक, हरमोनियम, मंजीरा, खंजरी तथा झींका वाद्य प्रयुक्त होते हैं।

हरबोल – यह महापुरुषों के चरित्र गेय –कथा (गाथा) के रुप में होते हैं।इनके पदान्त में प्रायः 'हरगंगे' शब्द आने के कारण इन्हें 'हरबोल' तथा गायक को 'हरबोला' (बहुबचन – हरबोले) कहते हैं। इनका वाद्य ढ़पली दो तीन व्यक्तियों के झुण्ड में हरबोले गांवों में द्वार–द्वार जाकर ढ़पली की थाप पर चरित्र सुनाते तथा बदले में पुरस्कार पाते है अब यह परंम्परा विलुप्ति की ओर है।

ढोलामारु – यह ढोला मारु नामक प्रेमी प्रेमिका की चर्चित जनगाथा का बुन्देली लोक भाषा में गेय संस्करण हैं गायक ढ़पली की थाप ढोलक तथा अन्य लोक वाद्यों के साथ यह कथानक गा–गा कर सुनाते हैं।

(2) लोकनृत्य

दिवारी नृत्य – यह नृत्य दण्ड–युद्व–कौशल का प्रतीक है।अहीरों अथवा अन्य पशु पालक जातियों, द्वारा दीवाली के अवसर पर किया जाता है। इसे 'बरेदी नृत्य' भी कहते हैं। नर्तक फूंदनादार बण्डी ,तथा रंग बिरंगे जाँघिया पहनते हैं। कमर में घुंघरूओं का पट्टा बांधे रहते हैं। दिवारी में नर्तक अपनी ऊंचाई के बराबर के दण्ड लिये रहते हैं जबकि हाथ में लगभग डेढ़ फुट लम्बी डंडियां लेकर नृत्य करने पर इसे 'पाई–डण्डा' कहते हैं। नृत्यों के डण्डों के घात–प्रतिघात से नृत्य–संगीत की रचना होती है।प्रमुख वाद्य ढोलक एवं नगड़िया है। नृत्य दो पंक्तियों की टेर से प्रारम्भ होता है।

राई नृत्य – रसिक वर्ग को रिझाने के लिए रतिमुद्रा प्रधान राई नृत्य मुख्यता बेड़नी जाति की महिलाओं का बासंतिक–नृत्य है। नर्तकी सोलह कली का रंग बिरंगा घाँघरा तथा चोली पहनती एवं झीनी चूनरी ओढती है। नर्तकी के साथ मृदंग वादक भी नाचता

है। प्रमुख वाद्य रमतूला ,तुरही,ढोलक,नागड़िया, झींका,खंजड़ी तथा मजीरा हैं। नृत्य के साथ फागें ,विशेषकर ईसुरी की द्विअर्थी फागें गाई जातीं हैं।

होली नृत्य – होली के अवसर पर गांव के फड़ पर फागों की लय तथा ताल पर गुलाल उड़ाते ग्रमीणों का यह नृत्य अत्यन्त आकर्षक होता है। प्रमुख वाद्य–ढोलक, मजीरा ,बांसुरी, करताल ,चमीटा आदि प्रयुक्त होते हैं।

घट नृत्य – बुन्देलखण्ड के कुओं में जलस्तर गहरा होने से पनहारी महिलायें सिर पर चार–चार घड़े लेकर चलती हैं। रास्ते में बाजा, ढपली, ढोलक बजते ही उसके पैर थिरकने लगते हैं। इसमें सिर पर घड़ों का संतुलन दर्शनीय है। मुख्यतया यह नट जाति का नृत्य हैं। इसमें गीत नहीं गाते हैं। केवल वाद्य के सहारे नृत्य चलता है।

जवारा नृत्य – देवी पूजा के क्रम में देवी गीतों (अचरी तथा भगत) के साथ भक्तगण यह नृत्य करते हुये चलते हैं। महिलायें सिर पर जवारे रखकर चलती हैं।एक व्यक्ति पूजा का थाल लेकर चलता है। एक व्यक्ति सांग (लोह की छड़) गाल में फंसाकर चलता है। नर नारी देवी गीत गाते हुए चलते हैं।प्रमुख वाद्य ढोलक, नगड़िया ,झीका, मजीरा, बांसुरी तथा लोटा हैं।

पटा बनैती नृत्य – तलवार तथा पटा का यह नृत्य युद्ध कौशल का नृत्य है। कुछ स्थानों पर इस नृत्य को अग्नि की लपेटों के बीच युद्ध करते किया जाता है। 'हजारा' ढाल का प्रतीक है। इन्हें विभिन्न मुद्राओं में घुमाकर यह नृत्य किया जाता है। प्रमुख वाद्य–रमतूला– ढोलक, झींका, चमींटा, कसेरू आदि हैं।

पालना नृत्य – इसे चंगेल नृत्य भी कहते हैं। शिशु जन्म पर उसकी बुआ जब बधावा लेकर आती है। तब पालना सिर पर रखकर महिलाओं द्वारा यह नृत्य सामूहिक रूप से किया जाता है।इसके साथ सोहर बधावा पालना आदि के गीत गाये जाते हैं। प्रमुख वाद्य ढोलक,मजीरा ,रमतूला, नगड़िया हैं।

बधाई नृत्य – यह पुत्र जन्म उपलक्ष्य में हर्ष की अभिव्यक्ति का नृत्य है।साथ में गीतचलता है। वाद्य नगड़िया, रमतूला, ढोलक मजीरा आदि।

चांचर नृत्य – यह नृत्य पाई–डण्डा की ही एक अन्य शैली है। जिसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं।

चांचर मशाल नृत्य – यह चांचर नृत्य की ही एक शैली है, जो अग्नि मशालों के साथ खेली जाती है।

सैरा नृत्य – सावन के माह में बुन्देलखण्ड में यह नृत्य प्रायः किया जाता है महिलायें तथा पुरूष सम्मिलित रूप में इसे करते हैं। नर्तक एक हाथ में छोटे छोटे डंडे तथा दूसरे हाथ में मोरपंख के मूंठ लेकर वृत्ताकर खड़े हो जाते हैं तथा अपने दांये बांये खड़े नर्तकों के डण्डों पर डण्डा मारकर कभी तिरछे कभी आड़े कभी सीधे नृत्य–संगीत प्रस्तुत करते हैं। वाद्यों में ढोलक, मजीरा, रमतूला प्रयोग करते हैं। इस नृत्य के साथ सैरा–गीत भी गाते हैं।

झिझिंया नृत्य – यह नृत्य 'नारे सुआटा' (नौरता) के अतंर्गत क्वार माह में

किशोरी बालिकाओं द्वारा किया जाता है। झिझिंया के अन्दर प्रज्वलित दीपक रक्खा जाता है। उसका झिलमिल प्रकाश बाहर आता रहता है। केन्द्र में नर्तकी झिझिंया सिर पर रखकर नृत्य करती है, शेष वृत्ताकार खड़े होकर तालियों की थाप देती हैं। सभी महिलायें बारी बारी से नृत्य करतीं हैं।कहीं–कहीं कुवांरी बालिकाओं से लेकर वृद्ध महिलाओं तक को यह नृत्य करना परंपरागत रूप से अनिवार्य है। इस अवसर पर झिझिंया–गीत गाते हैं।वाद्यों में ढोलक, नगड़िया, झींका आदि प्रयुक्त होते हैं।

ढिमरयाई नृत्य – यह ढीमर जाति का नृत्य है जो विवाह अथवा अन्य मांगलिक अवसरों पर पुरूषों तथा महिलाओं द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाता है। प्रमुख वाद्य रमतूला, खंजरी, लोटा, नगड़िया, ढोलक आदि होते हैं। नृत्य के समय प्रायः कहरवा, सजनई अथवा बिरहा लोकगीत गाते हैं।

रावला नृत्य – यह ढीमर तथा दलित जातियों का गायन एवं नृत्य है। इसके साथ संवाद एवं अभिनय (हास्य प्रधान) स्वांग के साथ होता है। स्त्रियों की भूमिका पुरूष ही करते हैं। प्रमुख वाद्य, हरमोनियम, झींका, मजीरा ,डमरू तथा सांरगी हैं।

कहरवा नृत्य– कहार जाति के मांगलिक पर्वो पर किया जाने वाला नृत्य है।

कोलिहा नृत्य – चित्रकूट के निकट पाठा क्षेत्र के कोल भीलों द्वारा यह नृत्य विशिष्ट अवसरों पर किया जाता है। साथ में कोलिहाई गीत गाते हैं।वाद्यों में ढोलक, नगड़ियां, कसंरू का प्राधान्य है।

(३) लोक वाद्य

बुन्देलखण्ड में स्वाधिक प्रचलित लोकवाद्य ढोलक है। हर दस पांच परिवारों के बीच 'ढोलक' की उपलब्धता इसकी लोकव्याप्ति का प्रमाण है। महिलाओं में ढोलक वादन की निपुणता सहज ही है। नवविवाहिता ससुराल आने के बाद प्रथम बार जिस सामूहिक मंगल गायन के 'बुलौआ' कार्यक्रम में भाग लेती है उसे 'दादरा' कहते हैं। इसमें नव विवाहिता को स्वंय ढोलक बजाकर 'दादरा' (लोकगीत) गाने की परंपरा है।

उल्लासमय पर्वो का मंगल वाद्य रमतूला है। बारात के आगमन अतिथियों के स्वागत और सम्मान के अवसर पर इसके वादन की लोक परंपरा है।

इसके अतिरिक्त बांसुरी, नगड़िया, नगाड़ा, नक्कारा, हुड़क चंग, पखावज, मिरदंग, झांक, मंजीरा, चिमटा ,कसेरू तथा चटकोला लोकवाद्यों का प्रचलन है। उपर्युक्त 'ताजवाद्यों' के समवेत–वादन की 'ताल–वाद्य–कचैरी' में बुन्देली लोकसंगीत का अद्‌भुत स्वरूप देखने को मिलता है।

(४)लोकनाट्य

स्वांग– बुन्देलखण्ड में प्रचलित 'स्वांग' यहां का प्राचीनतम लोकनाट्य है। 'स्वांग' का अर्थ है 'नकल' या अनुकृति' । इसमें लोकरूचि के विभिन्न प्रसंगों पर किसी की नकल का अभिनय गीत तथा नृत्य के साथ किया जाता है। वीररस और श्रृंगार प्रधान कथानकों से लेकर सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा असामाजिक प्रवृत्तियों पर केन्द्रित

इसके छोटे छोटे कथानक हास परिहास तथा व्यंग विनोद से भरपूर लोकानुरंजन करते हैं। इनकी विशिष्टता यहां की लोक शैली है। पथ–नाट्यों की भांति खुले मैदान, गलियों और चबूतरों पर प्रायः इसका मंचन होता है। विभिन्न जातियों के स्वांग अलग अलग शैली में मिलते है। भाटों के 'मड़ियाव' भी स्वांग में ही आते है।

नौटंकी– यह स्वांग का ही आधुनिक रूप है। इसको 'संगीत' भी कहते है। बाद में इसका नौटंकी नाम अधिक प्रचलित हो गया। नौटंकी के दो प्रचलित स्वरूपों 'हाथरसी शैली' तथा 'कानपुर शैली' में से इस क्षेत्र की नौंटकी पर कानपुरी शैली एवं पारसी नाट्य शैली का प्रभाव मिलता है। इसमें गद्यात्मक संवादों के साथ, साधारण गायन तथा प्रभावी अभिनय होता है। महिलाओं की भूमिकायें पहले पुरूष ही करते थे, अब महिलायें भी करने लगीं हैं । कथानक प्रायः सामाजिक, ऐतिहासिक एवं धार्मिक किन्तु श्रृंगार–प्रधान होते हैं। छंदों में बहर तवील, चौबोला, दो बोला, शेर, सवैया एवं लावनी की प्रचुरता होती है। प्रमुख वाद्य नक्कारा एंव सांरगी है।

रामलीला– वैष्णवी आभा से दीप्त बुन्देलखण्ड में रामचरित्र पर आधारित रामलीला के मंचन की पंरपरा गोस्वामी तुलसीदास के चित्रकूट–काल से ही लोकव्याप्त है। रामचरित मानस तथा राधेश्याम रामायन के काव्यांशों के साथ गद्य–पद्य के मिश्रित संवाद और बीच–बीच में नृत्य भी रहते हैं। कथानक को आगे बढाने में 'समाजी' की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। 'धनुषयज्ञ' जिसे स्थानीय भाषा में 'परशुरामी' भी कहते हैं।, प्रमुख ग्राम्यांचलों में होती रहती है। अनेक स्थानों पर दस या पंद्रह दिवसीय लीलायें भी होती हैं। वाद्यों में हरमोनियम, ढोल, मंजीरा, कांसा, झींका आदि का प्रयोग होता है।

जुगिया या बाबा– यह स्वांग का ही एक रूप है किन्तु इसके मंचन तथा दर्शन पर महिलाओं का एकाधिकार है। यदि भूल से सामने कोई पुरूष देखने भी आ जाये तो उसे 'बेलन' या डण्डों के प्रहार का सामना करना पड़ता है। लड़के के विवाह के समय बारात जाने के बाद,महिलायें इसकी प्रस्तुति धर के आंगन में या बाहर चबूतरे पर करतीं हैं। इसमे 'विवाह की रस्मों की नकल के साथ ही राधाकृष्ण रासलीला, गायन, नृत्य तथा अन्य मनोंरजक कथाओं को प्रस्तुत किया जाता है।

अन्य लोक नाट्यों के विपरीत इसमें पुरूषों की भूमिका भी महिलायें ही करतीं हैं। वादक भी महिलायें ही होती है। किसी भी नाट्य अथवा संगीत विद्यालय से अप्रशिक्षित ग्राम्य महिलाओं में इस लोक कला का विकास पंरपरा से हुआ हैं। वाद्यों में ढोलक, मजीरां, कांसा तथा झींका का प्रयोग होता है।

(५)लोक चित्रकला

लोक चित्रकला के निम्नांकित स्वरूप देखने को मिलते हैं–

अनुष्ठानिक लोक चित्रकला – इसके अंतर्गत विभिन्न पर्वो, उत्सवों', व्रत पूजन अनुष्ठान तिथि एवं त्योंहारों पर बनाये जाने वाले आलेखन आते हैं। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में वर्णित कला के जिन स्वरूपों की चर्चा की गयी है, उनमें यह 'धूलिचित्र' के अंतर्गत आते हैं। भूमि पर बनाये जाने वाले चित्रों को 'भूमि अलंकरण' या 'चौक' अथवा 'उरैन' कहते

हैं। भित्ति पर बनाये जाने वाले चित्र 'भित्ति अंलकरण' अथवा 'थापे' कहलाते हैं। विभिन्न त्योहारों यथा– भैयादौज, हरछठ गणेश चौथ, दिवारी , देवणन, करवा चौथ, कन्हैया आठें अहोई आठें, नौरता, नागपाँचे, साउनसुदी नमें, आदि की पूजा के अवसर पर विशिष्ट अंलकरण परिवार की महिलाओं द्वारा बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न अवसरों पर महिलाओं द्वारा अथवा पुरोहितों द्वारा चौक पूरन की परंपरा में बनाये गये चित्र इसी कोटि में आते है। इनको "गोबर के आधार पर आटा एवं (चावल धोल) खड़िया, गेरू, गुलाल, हल्दी आदि माध्यमों से बनाते हैं। घर के बार 'उरैन' डालने के अंतर्गत चौक बनाने तथा विशिष्ट अवसर परे दरवाजे के चबूतरा या आंगन गोबर से लीपकर ऐपन (चावल के धोल), खड़िया या गेरू से कलात्मक बार्डर (ढिंग) बनाने की कला इसी के अंतर्गत आती है। प्राचीन काल में समृद्ध परिवारों में मणिरत्नों से चौक पूरने की कला इसकी के अंतर्गत गिनी जाती है वात्स्यायन ने इन कलाओं को 'तण्डुल कुसुमवलिविकार कला' नाम से अभिहित किया है।

नारी श्रंगार–

इसके अंतगत महिलायें मेंहदी अथवा महावर का कलात्मक अंकन करती हैं। इसे भी लोक चित्रकला में परिगणित किया जाता है।

व्यवसायिक लोक चित्रकला– इसके अंतर्गत व्यवसायिक स्तर पर विभिन्न अवसरों पर चितेवरों द्वारा बनाये जाने वाले 'चितौरी' लोक कला चित्र मन्दिरों अथवा अन्य भवनों में बने भित्ति चित्र,बुन्देली कलम के लघु चित्र (मिनियेचर पेन्टिग्स) तथा गुदनारियों द्वारा बनाये जाने वाले 'गोदना' आते है।

चितौरी कला –में प्रायः दो प्रकार के चित्र मिलते हैं। प्रथम,दीपावली पूजन के लिये बनाये जाने वाले चित्रपट इन्हें 'पना' कहते हैं। यह कागज के 'पन्ना' पर बने होते हैं। इनपर" गणेश लक्ष्मी अथवा 'लक्ष्मीजी' का बुन्देली चित्रकला शैली में अंकन होता है। द्वितीय प्रकार के चित्र विवाह या जन्म–उत्सव पर धर की बाहरी दीवाल पर बनाते हैं। इनमें धटधारिणी महिलायें, वर–वधू, अश्वारोही, गजारोही, कलश, सांतिया मयूर आदि का चित्रांकन होता है।

दोंनो प्रकार के चित्र मोटी रेखाओं के बीच गहरे चटख रंगों से बनाये जाते है। लोकचित्र परंपरा के इन कलाकारों को चितेउरे कहते हैं। झांसी में इनका पूरे का पूरा मुहल्ला 'चितोरयाना' बड़ा बाजार के निकट है।

मन्दिरों तथा भवनों की दीवारों पर भित्ति चित्र बनाने की सशक्त परम्परा इस अंचल में है इसके साथ ही बन्देली कलम के लघु चित्र (मिनियेचर पेंटिग्स) भी इसी श्रेणी में आते है। यह लघु चित्र राजस्थानी शैली से प्रभावित है। बुन्देलखण्ड के यह लघु चित्र ओरछा शैली तथा दतिया शैली में वर्गीकृत किये जाते है।

'गोदना' आदिवासी जातियों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं तथा कहीं कहीं पुरूषों के शरीर पर गोदी जाने वाली कला है। शरीर के विभिन्न अंगो पर धार्मिक प्रतीक

चिन्ह, प्राकृतिक चिन्ह, ज्यामितीय रेखांकन अथवा नाम (स्वंय का,इष्टदेव अथवा जीवन साथी का) का अंकन, तोणियों के पत्ते का रस या अकौवा का दूध कजली के साथ मिलाकर गोदना लेप बनाकर, किया जाता है। इन्हें अंकित करने वाली महिलाओं को 'गुदनारी' कहते हैं।

इन संरचनाओं में जबर्दस्त कलाबोध है। परंपरा की इस विरासत में प्रतीकों का सुन्दर प्रयोजन–मूलक तथा सुरुचिपूर्ण समावेश है। इनमें अनेक प्रतीक प्रयोग किये जाते हैं तथापि कुछ प्रतीक अधिकांश आलेखनों में मिलते हैं। यहाँ उनके अर्थ तथा भाव–बोध की चर्चा प्रासंगिक है।

सांतिया (स्वस्तिक)– यह गणेश जी का लिपीय स्वरुप है। यह गतिशीलता का प्रतीक है। क्षेम एवं विघ्नरहित कार्यों के प्रतीक रुप में चित्रित किया जाता है। गणेश जी का चित्र न बनाकर स्वस्तिक (सांतिया) बना दिया जाता है। इसका अर्थ है स्वस्ति (यानी मंगल) करने वाला। चक्राकार सांतिया भी इसी का विकसित रुप है। स्वस्तिक अनेक ध र्मों में आस्था का प्रतीक है। ईसाई धर्म का क्रास इसी क्रम में गिना जाता है।

दीपक – यह सहजता, पावनता, शुभ्रता, सात्विकता तथा अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने का प्रतीक है। इसकी ज्योति 'ज्योति–लक्ष्मी' का प्रतीक है।

कमल / शंख – यह पवित्रता और ज्ञान के प्रतीक हैं यह सिन्धुज होने के कारण लक्ष्मी के अनुज हैं। जहां यह रहेंगे, लक्ष्मी का आगमन होगा ही। यह उत्पादक शक्ति, शुचिता, अलिप्तता तथा शाश्वत–शोभा के प्रतीक हैं। बंगाल तथा कुछ अन्य प्रांतों में शंख की चूड़ी दाम्पत्य पवित्रता के रुप में पहनी जाती है।

सूर्य तथा चंद्र – यह दोनों शाश्वतता, चिरन्तनता, तथा पवित्रता क प्रतीक हैं। सूर्य तेजस्विता, गतिशीलता, जीवंतता तथा अन्न जलदाता होने के कारण 'जगपालक होने' तथा आरोग्यता का प्रतीक है। पूर्ण चंद्र पूर्णता का प्रतीक है।

कलश तथा घटधारिणी महिला– कलश संपन्नता, परिपूर्णता तथा सम्मान का प्रतीक हैं। घटधारिणी महिलायें समृद्धि वाहक–देवी (घट लक्ष्मी) का प्रतीक हैं।

गज तथा अश्वारोही – यह समृद्धि ऐश्वर्य, शक्ति–सम्पन्न तथा सामर्थ्यवान के प्रतीक हैं। श्री सूक्त में इनकी गणना श्री के विविध रुपों में की गई है।

पैरों के निशान – श्रीचरण अथवा लक्ष्मी के शुभागमन के प्रतीक हैं।

हथेलियों की छाप– पंचतत्वों की समग्रता, पंचों की साक्षी, पारिवारिक एकता सात्विकता तथा दो हाथों की छाप युगल सहयोग की प्रतीक है।

सीढ़ी – उत्तरोत्तर प्रगति का द्योतक है।

मोर– जीवन में सौन्दर्य–बोध एवं रुचि–विविधा का प्रतीक है।

इन अर्थों को समझने के बाद हम इन आलेखनों को गौर से देखें। उदाहरण के लिये शिशु जन्म पर दरवाजे के बाहर दीवाल पर गोबर लीपकर गोबर से बनाये गये 'चक्राकार–सांतिया' (भये के सांतिया) की ओर देखें–

यह गोबर से बनाते हैं तथा थोड़ी थोड़ी दूर पर जौ के दाने इस प्रकार चिपकाते

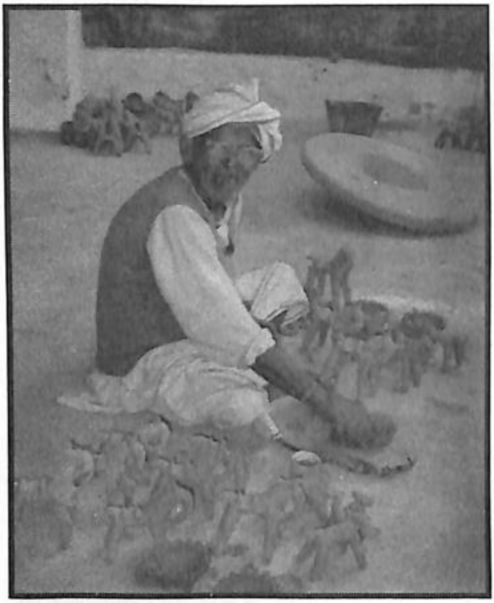

हैं कि उनका एक नुकीला भाग बाहर की ओर निकला रहे। इसमें गोबर देशज तथा पवित्रता का प्रतीक है। घर में जनन अशौच से जो अपावनता आ जाती है, गोबर उसका निदान तथा पर्यावरण शोध ाक है जौ धन धान्य का प्रतीक है। इसके नुकीले भाग सांसारिक बाधाओं से संघर्ष के प्रतीक हैं। चक्राकार सांतिया गतिशीलता प्रगति तथा गणेश जी का लिपीय स्वरुप होने के कारण विघ्न विनाशक का प्रतीक हैं। इस प्रकार शिशु जन्म पर बना यह आलेखन विघ्न विनाशकता, परिवार की प्रगति, साहसिकता, धनधान्य–वृद्धि तथा समृद्धि का संदेश–वाहक है।

(६)लोकशिल्प

लोक शिल्प के अंतर्गत अनेक वस्तुऐं मुख्तया मिट्टी, धातु, कपड़ा, काष्ठ, बांस की खपच्चियों तथा अन्य उपलब्ध कच्चे माले से बनायी जाती हैं।

मिट्टी की कला (मृण्यूर्मि शिल्प) के अंतर्गत, विवाह के समय झूमर, महालक्ष्मी पूजन पर हाथी, गणगौर पूजन पर 'गनगौर', संकरात पर 'हाथी, धोड़ा, गढ़िया, सावन के अवसर पर 'रंगीन मटकियां' एवं कलश' तथा दीवाली पर दीपक दीवट एवं दीप धारिणी महिलाओं की मूर्तियां रंग बिरंगी बनाते हैं।

धातु शिल्प के अंतर्गत सोने चांदी या गिलट के कलात्मक आभुषण पीतल के सरौता आदि बनाये जाते हैं। श्रीनगर (महोबा) तथा ललितपुर में धातु की मूर्तियां तथा खिलौने बनाये जाते हैं। परिवारों में 'अकती' के अवसर पर कपड़े की 'पुतरा' पुतरियां (डाल), मौराई छठ पर बिजना बटुआ', कुड़री तथा कथरी बनाने की लोक पंरपरा है।

काष्ठ शिल्प में नक्काशीदार पूजा–चौकियां, सिंहासन, इत्रदान, खिलौने, आभूषण–पात्र, दरवाजे चौखट आदि कलात्मक बनाने की पंरपरा है। बांस की खपच्चियों से सुअटा, ताजिया, मन्दिरों के विमान आदि बनाने की परंपरा है।

गोबर से गणेश बनाये जाते हैं। परिवारों में स्थानीय उपलब्ध कच्चे माल से डाब, मंजू, सरकंडा, बांस या खजूर से अनेक गृह उपयोगी वस्तुयें बनाते हैं। इस प्रकार बुन्देलखण्ड की लोक कलाओं में कला की बहुरंगी झांकी देखने को मिलती है, जो यहां के निवासियों की कलाप्रियता तथा सांस्कृतिक समृद्धि का परिचायक हैं।

•

बुन्देलखण्ड में फागों के विविध रूप

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में होली मनाये जाने के अनेक लोकस्वरूप मिलते हैं– यह अत्यंत रोचक होते है। इनमें 'डगे की फाग', 'गुझिया की फाग' तथा मटका की फाग विशेष प्रसिद्ध है। यहाँ फाग मनाने की परंपरा प्राचीनकाल से चली आ रही बसंतोत्सव की परंपरा का ही लोक संस्करण है।

आइये, सबसे पहले देखें –'डगे की फाग'। बुन्देलखण्ड के कुछ क्षेत्रों में 'डगे की फाग' खेली जाती है। इसे 'डला की फाग' भी कहते हैं। इसके लिये गाँव के खुले मैदान में एक मोटी तथा चिकनी बल्ली गाड़ दी जाती है। उस पर तेल पोतकर और चिकना किया जाता है। बल्ली के ऊपरी सिरे पर एक पोटली में 'गुड़ का डला' तथा कुछ रूपये पैसे बांध दिये जाते हैं। एक मोटा रस्सा बल्ली के ऊपरी भाग पर बांधकर नीचे तक लहराता हुआ छोड़ दिया जाता है। गाँव की बलिष्ठ महिलायें इस बल्ली का घेरा बनाकर अपने हाथों में पोले बांस लेकर खड़ी हो जाती हैं। इसके पश्चात् पुरूषों को 'डगे की फाग' खेलने की आवाज लगाई जाती है। जो पुरूष आगे निकलकर आता हैं, उससे बल्ली पर चढ़कर पोटली उतार कर नीचे उतरने को कहा जाता है। जो व्यक्ति पोटली उतारकर नीचे ले आता है, उसे विजयी घोषित किया जाता है। उसे पोटली इनाम में दे दी जाती है। पोटली उतारकर नीचे आने तक का दृश्य बड़ा दिलचस्प होता है।

कालपी के निकट 'कँहटा' नामक ग्राम है। यहाँ कर्दम ऋषि का मंदिर बना है, जिसमें उनकी सुन्दर मूर्ति स्थापित है। इस गाँव में 'गुझिया की फाग' मनाई जाती है। एक ऊँचे मकान के झरोखे में या छत पर कुछ महिलायें आटा तथा मावे (खोया) की बनी गुझियाँ हाथ में लेकर बैठ जाती हैं। 'गुझियाँ की फाग' प्रारंभ होते ही मैदान में एकत्रित युवक ऊँची कूँद की मुद्रा में उछलकर उन महिलाओं के हाथ की गुझिया छीनकर खाते हैं। दीवाल के सहारे चढ़कर 'गुझिया' तक पहुँचना मना है। यदि दीवाल के सहारे कोई युवक चढ़ने का प्रयास करता है, तो वहाँ एकत्रित महिलायें लठ्ठ मारकर भगा देती हैं। जो ऊँची कूँद में असफल होकर गुझिया की ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाते हैं, उन्हें निराश होना पड़ता है।

इसी प्रकार कुछ स्थानों पर मटका की फाग होती है। क्षेत्रों में सड़क के दोंनों ओर एक वृक्षों या खम्भों से रस्सी बांध दी जाती है। उसी रस्सी के बीच में सड़क के मध्य में एक 'मटका' (मिट्टी का घड़ा) बांध देते हैं। मटका में गुलाल अबीर तथा रूपयों की एक थैली डाल देते हैं। जब फाग शुरू होती है तो युवक हाथ में एक छोटा डंडा लेकर ऊँची कूँद उछलकर वह मटका तोड़ने का प्रयास करते हैं। जिसके प्रहार से वह मटका टूट जाता है, उसे थैली इनाम में दे दी जाती है।दोपहर तक यह क्रम चलता है। घरों के भीतर रंग–अबीर की होली चलती है।

बुन्देलखण्ड के लोकांचलों में होली का प्रारम्भ दण्ड एवं ध्वज गाड़ने के साथ माघ

शुक्ल पूर्णिमा से हो जाता है। इसे लोक भाषा में "होरी कौ डाँड़ौ" लगाना कहते हैं। इसके लिये गाँव के किसी एक खुले स्थान या चौराहे पर एक बांस या बल्ली गाड़कर उसके ऊपरी छोर पर लाल पताका बाँध देते हैं। हल्दी चावल आदि से उसका पूजन करके उसके चारों ओर काँटों तथा झाड़-झंखाड़ की बाड़ लगा देते हैं। यह झाड़-झंखाड़ मकान, अथवा खेतों, खलिहानों से लाकर डाली जाती है। इस बहाने खेतों खलिहानों से अवांछित गन्दगी भी हट जाती है। इसके पश्चात् प्रतिदिन कुछ कण्डा (उपले) या लकड़ी (नई अथवा पुरानी टूटन) लाकर रखते जाते हैं। यह कार्य होली के कार्य में लगे 'हुरयारे' करते है। कुछ क्षेत्रों में "होरी कौ डाँड़ौ" होली के आठ दिन पूर्व गाड़ा जाता है। "होरी डाँड़ौ" (दण्ड-ध्वज) सामाजिक बुराइयों तथा परस्पर विद्वेष समाप्त करने की संकल्पशीलता तथा उस पर विजय का प्रतीक है। काँटे इस मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं के प्रतीक है। फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से "होलिकाष्टक" लग जाता है। इस अवधि में शुभकार्य लोक-वर्जित होते हैं।

जिस दिन "डाँड़ौ" रक्खा जाता है, उसके अगले दिन से परिवारों में गोबर के बरबूला (बल्ला) पाथने बनाने का काम प्रारम्भ हो जाता है। यह बरबूला मजीरा वाद्य के आकार के होते हैं। उनमें बीच में एक छेद बनाया जाता है। प्रतिदिन घर में बरबूले बनाकर उन्हें सुखाकर माला के रूप में पिरोकर टांगते जाते हैं। फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा की रात्रि में आंगन में आटा का चौक पूरकर उस पर बरबूलों की माला इस प्रकार रखते हैं कि पिरामिडीय आकार बन जाये यानी सबसे बड़ी माला-सबसे नीचे, उससे छोटी उसके ऊपर. .... यही क्रम ऊपरी छोर तक चलता रहता है। इस आकार को 'बरबूलों की होली' कहते हैं।

पूर्णिमा की मध्यरात्रि के पश्चात् "डाँड़े की होरी" का ग्रामवासियों द्वारा सामूहिक पूजन करके उसे प्रज्ज्वलित करके 'होलिका दाह' किया जाता है। इसकी कुछ अग्नि प्रत्येक परिवार में ले जाई जाती है, जिससे आँगन में बनी बरबूलों की होली जलाई जाती है। बरबूलों की होली प्रज्वलित करने के पूर्व परिवार का मुखिया उसका विधिपूर्वक पूजन करके 'होलिकाग्नि से उसको दाह देता है। इस होली की आग में नयी गेहूँ की बालें झुलसाकर खाईं जाती हैं। इसी आग में गेहूँ के आटे की 'कुचइयाँ' (छोटे आकार की हाथ से बनी रोटी) बनाकर खाई जाती है।

गाँव के चौराहे पर 'डाँड़ें' की होली भस्म होने के बाद उसकी भस्म ग्रामवासी मस्तक पर लगाते हैं तथा प्रियजनों पर छिड़कते है। तब तक भोर हो जाती हैं। भस्म फेंकने का यह सिलसिला धूल की होली और कीचड़ की होली में परिवर्तित हो जाता है। इसके साथ ही गाँव में लोग जिसको भी घर के बाहर देख पाते हैं उसे पकड़कर गधे पर बैठाकर तथा जूतों की माला पहनाकर फूहड़ काव्य (तुकबंदी) कहते जाते हैं।

जहाँ 'डगे की फाग' खेलने की परम्परा नहीं है वहाँ 'फगवारौ' निकलने की परंपरा है। इसके अंतर्गत गाँव तथा पड़ोसी गांवों के लोग समूहबद्ध होकर हरमोनियम, ढोलक, मजीरा, तुरही, रमतूला लेकर फागें गाते बजाते निकलते हैं। फगवारौ का स्वागत गाँव

के प्रत्येक घर में होता है। इसकी तैयारी के लिये होली के कई दिन पूर्व से आटे में खोवा भरी गुजियाँ, 'मोइन डारी पपरियाँ, तथा 'फाग के लड्डुवा' थालियों में भर भरकर बनाते हैं। फगवारों के स्वागत उपरान्त फड़ जमता है। 'फड़' को फाग–दंगल भी कहते हैं।

फड़ के अंतर्गत–एक बड़े चबूतरे पर या खुले मैदान में दो तख्त डालकर आमने

सामने गायक दल बैठते हैं। फड़ पर गायकों तथा कहीं कहीं श्रोताओं के लिये जाजम (स्थानीय छपा फर्श) बिछाते हैं। रमतूला बजाकर कार्यक्रम प्रारम्भ होने की सूचना दी जाती है। ढ़ोल, मजीरा, नगड़िया तथा ढोलक की थाप पर फागों का जबाबी गायन प्रारम्भ हो जाता है। कहीं कहीं 'बाजौ वाला' (हरमोनियम मास्टर)गले में कपड़े से हारमोनियम टांगे हुये

चलता है। लोकांचल में हारमोनियम को 'बाजौ' कहते है। गायन प्रारम्भ होते ही आबाल वृद्ध बनिता चुम्बक की भँति खिंचे चले आते हैं। कुछ ही देर में मैदान भर जाता है। बचे खुचे नर नारी चारों ओर घेरा बनाकर खड़े हो जाते हैं। फागों के अलावा ख्याल तथा सैरे आदि का भी गायन होता है। 'फड़' पर जबाबी गायन की परंपरा है। विषयवस्तु, शिल्प और गायकी की शास्त्रीयता पर ही फड़ जीता जा सकता है। उदाहरण के लिये यदि एक फाग–गायक ने बिना मात्रा की फाग गायी, तो उसका जबाब बिना मात्रा की फाग गाकर ही दिया जा सकता है। यदि एक ने 'अधर' फाग गायी, यानी ऐसी फाग जिसके उच्चारण में परस्पर होंठ न मिलें तो दूसरे को जबाब में 'अधर' फाग ही गानी पड़ेगी। यदि एक अनुस्वारहीन (बिना नुक्ता) की फाग गाता है तो जबाब में वैसी ही फाग गानी पड़ेगी। इन मानकों के जौहरी भी उन श्रोताओं में ही होते हैं। इससे यहाँ की लोक–रूचि के स्तर की सहज कल्पना की जा सकती है। फगवारों की स्मरण शक्ति गजब की होती है। वह स्वयं आशुकवि हो तो उसका सम्मान अधिक होता है। स्वरचित या किसी भी फागकार की 'फाग पढ़ने की अनुमति होती है। फाग–साहित्य के अब तक पर्याप्त रूप से प्रकाश में न आने का एक कारण यह भी रहा है कि फगवारे–जबाबी–प्रतिद्वंदिता में अपनी विजय सुनिश्चित करने के लिये अच्छी फागें छपवाते नहीं थे। ताकि वह जन सामान्य की पहुँच में न आ जावें। वे ऐन वक्त पर प्रतिद्वंदी को मात देने के लिये ही उनका उपयोग करते थे। 'ईसुरी' चूंकि स्वयं अपनी फागें फड़ पर यदा कदा ही गाते थे, तथा अपने शिष्यों एवं मित्रों को फड़ पर गाने के लिये दे देते थे। अतः उनकी फागें सहजता से लोकव्याप्त हो सकीं। पहले, पूरे के पूरा गाँव घर खुला छोड़कर 'फड़' के आस पास इकट्ठा हो जाता था। फड़ दिन भर और रात रात भर चलता था। भोजन पानी तक की चिन्ता नहीं रहती थी। संगीत की स्वरलहरी जैसे जैसे गतिमय होती जाती थी, श्रोता समुदाय हर्षोन्मत्त होता जाता था।

फागों के इस फड़ या दंगल का विशेष आकर्षण 'अटका की फाग' यानी प्रश्नोत्तरी फाग होती हैं। इसमें एक गायक फाग के माध्यम से प्रश्न पूछता है, दूसरा फागकार उसका उत्तर फाग में ही देता है। कभी वह प्रति प्रश्न भी करता है। इस उत्तर प्रत्युत्तर से रोचक वातावरण बन जाता है। विजयी फागकार को अपने अटका का जबाब तुरंत फाग में देना होता है। कुछ युवक थालियों में अभ्रक–मिश्रित गुलाल भरकर, श्रोताओं की ओर उड़ाते थे। कुछ युवक टेसू (पलाश) का रंग पिचकारियों में भरकर फड़ पर आने जाने वालों पर डालते रहते थे। फड़ पर बैठने के बाद रंग नहीं डाला जाता था। फड़बाजी की इस परंपरा से लोक साहित्य तथा संस्कृति के अविरल प्रवाह को गति मिली है। अब यह फड़–परंपरा उतार पर है। फाग और ख्याल के बजाय फिल्मी गानों के कैसेट हावी होते जा रहे हैं। यह एक चिन्ताजनक स्थिति है।

मुझे स्मरण है कि लोग होली के कई दिन पूर्व से टेसू के फूल बीनकर उन्हें पानी में भिंगोकर रखते थे। एक दो दिन बाद उन को उबालकर, ठंडा हो जाने पर उसमें

चूना मिला देते थे। सुन्दर बासंती रंग उतर आता था, हल्की सी मादक सुगंध के साथ। जो धनिक वर्ग बागों में या खेतों अथवा रास्तों के किनारे टेसू के फूल बीनने में हीनता का अनुभव करते थे, वह बाजार में, ग्रामीणों द्वारा बैलगाडियों पर बिक्रयार्थ लाये गये टेसू के फूल खरीदकर घरों में रंग उतारते थे। मैंने स्वयं किशोरवय तक अपनी जन्मभूमि कोंच (जालौन) के बाग–बगीचों तथा पगंडडियों के किनारे लगे टेसू के फूल बीनकर उनसे रंग उतारकर जाने कितने बसंत बौराये थे।

टेसू के रंग उतारने का यह सिलसिला, इस लोकांचल में बसंत पंचमी के पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाता था। जिन घरों में टेसू का रंग नहीं उतारा जाता था, वह बाजार से बसंती रंग खरीद कर उसमें अपने वस्त्र रंगते थे। बसंत पंचमी के दिन बसंती रंग में रंगे कपड़े पहनना पारंपरिक अनिवार्यता थी। पुरूष हो या महिला, बच्चे हों या बूढ़े बसंती पंरिध ाान पहिन कर बसंत की पूजा करते थे। इसमें गेहूँ जौ की बालियों को पूजना और परस्पर भेंट देना सम्मिलित होता था। खेतों में सरसों के फूले पीले फूल और गली–घर–आंगन में बासंती परिधान, कुल मिलाकर, बसंत बुन्देली धरती पर उतर आता था। बसंत की पूजा का यह पर्व 'बसंतोत्सव' युगो–युगों में परिवर्तित होता हुआ अपना स्वरूप बदलता जा रहा है।

जब बड़ा हुआ, पढने की रूचि जागृत हुई तब वात्स्यायन रचित 'कामसूत्र' के साधारण अधिकरण में 'नागरक वृत्त प्रकरण'(सामान्य नागरिक जीवन संबंधी चौथे अध याय में 'उद्यानयात्रा' का विवरण पढ़ा। उसमें गाँव के बाहर किसी उद्यान में प्रियजनों के साथ जाकर कामदेव के दर्शन करने और बांस की पिचकारियों में पलाश का रंग भरकर प्रियजनों पर डालने की 'उदक्क्ष्वेडिका' परंपरा को जाना। इसे पढ़ते–पढ़ते बचपन की यादें और बुन्देलखण्ड की लोकपरंपरायें मानस पटल पर उभर आई। कोंच नगर में 'रामकिशुन की बगिया'नामक एक सुरम्य वाटिका है। इस वाटिका में कामारि भगवान शिव का समाधि ास्थ विग्रह स्थापित है। चारों और पुष्प–लता वल्लरियों का मनमोहक दृश्य, कूप और उद्यान। आगंतुकों को बैठने के लिये पत्थर की बैंचें। होली की प्रतिपदा को सायंकाल लोग सजधजकर प्रियजनों के साथ इस वाटिका में जाते थे। भगवान शिव के दर्शन करके अबीर गुलाल लगाते, भंग या अन्य प्रसाद लेते फिर वाटिका में विचरण करते थे। यद्यपि वहाँ आगंतुकों पर रंग डालने का निषेध था तथापि मुझ जैसे कुछ बालक पिचकारियों से टेसू का रंग डालने में उत्सव का आनंद मनाते थे।

बुन्देलखण्ड के कुछ क्षेत्रों में चैत्र शुक्ल षष्ठी को 'टिसुआ–छठ' के नाम से मनाया जाता है। उस दिन टेसू के वृक्ष तथा पुष्पों की पूजा करने का विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि टेसू की आरोग्यदायी–प्रकृति के कारण मनीषियों ने उसे पूज्य–कोटि में रखकर, इस लोकपर्व के माध्यम से, जन सामान्य से जोड़ने का प्रयास किया है।

श्री हर्षदेव कृत रत्नावली नाटक पढते समय बुन्देलखण्ड में फागों के फड़ आँखों में झूमते.हैं। यहाँ राजसी वैभव तो नही है किन्तु लोकशैली में संगीत, नृत्य और गायन के साथ अबीर गुलाल और पलाश के रंग से सराबोर बसंतोत्सव प्राचीन 'मदनोत्सव' की याद दिलाते हैं।

भारतीय वाड्गमय का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि प्राचीन काल में बसंतोत्सव के समय 'अभ्यूष खादनिका' या 'नवान्नेष्टि' के अंतर्गत नवीन अन्न भूनकर खाने की परंपरा थी। वह परंपरा आज तक बुंदेलखण्ड में इस रूप में जीवित है।

हेमाद्रिकृत 'निर्णय सिन्धु' में होलिकादहन के पश्चात् भोर में 'होलिका विभूति वन्दन' के अंतर्गत होलिका की विभूति (भस्म) धारण करने का उल्लेख किया गया है। बुन्देलखण्ड में विभूति को 'भभूत' कहते हैं। यहाँ यज्ञों की विभूति (भभूत) धारण करने की लोक–परंपरा है। उसी की भांति, मेरे विचार से, लोग होली की विभूति प्रियजनों के मस्तक पर लगाते होंगे तथा उंगलियों में बची शेष भस्म उस व्यक्ति पर छिड़क देते होंगे यह परंपरा शनैः शनैः विभूति से बढ़कर धूल पर आ गई और उसके तरलरूप 'कीचड़' की होली परंपरा विकसित हुई होगी। भविष्य–पुराण में बसंतोत्सव में 'गाली प्रदानम्' की भी चर्चा है। होली के अवसर पर फूहड–संवाद, फूहड़ काव्य–रचना तथा फूहड़ फागों के साथ हास परिहास–सम्मेलन (महामूर्ख सम्मेलन)इसी परम्परा का विकसित स्वरूप हैं।

इस प्रकार बुन्देलखण्ड में फाग गायन (नृत्य–संगीत), रंग को पिचकारियों में भरकर प्रियजनों पर डालने (उदक्क्ष्वेडिका), धूल या कीचड की होली खेलने (धूलवंदन) गाली देने अथवा फूहड़ संवाद कहने (गाली–प्रदानम्), होली के अवसर पर गेहूँ अथवा जौ की बालें भूनकर खाने (अभ्यूषखादनिका या नवान्नेष्टि) की परंपरायें प्राचीन काल में बसंतोत्सव की उत्सवमयी परंपरा का युग–युगों में काल के प्रवाह में परिवर्तित हुआ लोक संस्करण है।

प्राचीन काल में बसंतोत्सव बसंत पंचमी (माघ शुक्ल पंचमी) से प्रारंभ होकर चैत्र मास पर्यन्त चलता था। इसमें फाल्गुन माह मुख्य होने के कारण इसे 'फल्गु' या 'फाग' कहा गया। ' फगुवाना' मदमस्त होने का मुहावरा बन गया है। बुन्देली लोक जीवन में इस रसवंती परंपरा को वर्ष पर्यन्त उल्लासमय क्षणों के साथ जोड़ने की दृष्टि से विवाह में 'फाग' की रस्म सम्मिलित की गई है। इसके अंतर्गत कन्यापक्ष के पुरूषों तथा महिलाओं द्वारा वर पक्ष के पुरूषों पर रंग डालना, मुंह रंगना तथा वर पक्ष द्वारा इसका 'नेग' देना 'फाग रस्म' में आता है। विवाह किसी भी ऋतु में हो 'फाग की रस्म' विवाह कार्यक्रम का अविभाज्य अंग है।

•

फड़बाजी तथा ख्यालबाजी

बुन्देलखण्ड के लोकजीवन में लोकरंजन का सबसे सशक्त माध्यम 'फड़' कुछ दिनों बाद सिर्फ यादों की धरोहर रह जायेगा, तब न चंग की थाप पर ख्याल सुनने को मिलेंगे और न फगवारों की फागें। 'फड़' के अंतर्गत गांव की चौपाल में चबूतरे या तखत के बने मंच पर दो प्रतिद्वंदी पक्ष बैठते थे। संगीतबद्ध गायन प्रतियोगिता होती थी। गांव में फड़ रात भर चलता था। पूरे गांव के लोग-लुगाई रात-रात भर आराम छोड़कर फड़ से रस विभोर होते थे। इसमें गाया जाने वाला साहित्य 'फड़ साहित्य' कहलाता है। इसके अंतर्गत ख्याल लावनी सैरा, सैरे, फाग लेदें, मंजे - झोलना, तड़ाका आदि का संगीतबद्ध गायन होता था। गांव के अनपढ़ किन्तु लोकविधा मर्मज्ञ रसिक श्रोता इनकी परख रखते थे। जो पक्ष प्रतियोगिता में मात खा जाता था। उसकी चंग या ढोलक छीन ली जाती थी। इन विधाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय विधा 'ख्याल' रही है। किन्तु अब वह भी विलुप्तोन्मुख है।

ख्याल मूलतः संगीत की विधा है। संगीत की शास्त्रीय शैली ध्रुपद धमार तथा लोकशैली ख्याल है। लोकरीतिकारों ने इसे शास्त्रीय छंद का स्वरूप दिया है। यह २२ पंक्तियों का मात्रिक छंद है। प्रत्येक पंक्ति मे ३२ मात्रायें होती हैं। प्रारम्भिक दो पंक्तियां टेक की होती हैं। इसके बाद पांच-पांच पंक्तियों के चार छंद होते हैं। इनमें चार पंक्तियों के चौक के बाद पंचमी पंक्ति उड़ान की होती है। इसकी विशिष्ट गायन शैली है जिसे तर्ज या बहर कहते हैं। 'बहर' को अनेक प्रकार से वर्गीकृ त किया गया है। जैसे बहर खड़ी, बहर लॅंगड़ी, छोटी, शिकस्ता, मुखफ्फा तथा तबील आदि। इसका वाद्य 'चंग' है।

'ख्याल' को खेलपरक (प्रति स्पर्द्धात्मक) माना जाता है। ख्याल का अर्थ है 'विचार' - यानि सामयिक विचार। इस प्रकार ख्याल का भाव पक्ष व्यापक हो जाता है। सामान्यतया ख्याल को 'ख्याल-लावनी' कहकर पुकारते हैं। लावनी का अर्थ है सलौनी (लावण्यमयी)। यानी प्रतिस्पर्द्धात्मक समसामयिक सलौनी कविता। ख्याल गायन के दो संप्रदाय हैं 'कलगी' तथा तुर्रा। इसके पीछे एक जनश्रुति है। बताते हैं कि अमीर खुसरो के समय शाह अली तथा तुफनगिरि नामक दो ख्याल गायकों में कई दिन की फड़बाजी में जब उच्चता का निर्णय नहीं हो सका तो खुसरो ने एक को कलगी तथा एक को तुर्रा पहनाकर उसकी दो शाखायें घोषित कीं। तब से इसके दो संप्रदाय घोषित हुये। 'कलगी' संप्रदाय शक्ति का उपासक होता है, 'तुर्रा' शिव का। इसका मुख्य विकास रीतिकालीन व्यवस्था में होकर गांव-गांव में फैल गया। बुन्देलखण्ड में यह विधा विलुप्तोन्मुख होने के बावजूद, मऊरानीपुर, गुरसराँय, समथर, झांसी, कोटरा तथा कालपी मे अभी भी 'ख्यालबाजी'

का आयोजन होता रहता है। जिसमें देश के अन्य भागों से भी ख्यालगायक आते हैं। इस समय बुन्देलखण्ड के प्रतिनिधि ख्यालगायक राघवदास सेठ तथा शिवाजी चौहान (दोनों गुरसराँय निवासी) हैं। इनमें राघवदास सेठ को उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी द्वारा अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया था। बुन्देलखण्ड के अलावा ख्याल गायन की परंपरा लखनऊ, फिरोजाबाद, एटा, अलीगढ़ तथा हाथरस में भी लोकप्रिय हैं। इन स्थानों पर ख्याल के अच्छे गायक अभी भी साध नारत हैं।

ख्याल के लेखन की भांति गायन भी शास्त्रीय स्तर का होता है। एक पक्ष जिस ढंग से 'ख्याल' प्रस्तुत करता है- उसी ढंग से जवाब दूसरा पक्ष देता है। उदाहरण के लिये यदि ख्याल सगण में लिखा जाता है तो उसकी सभी पंक्तियां सगण में होंगी तथा प्रतिद्वंदी ख्यालबाज को भी सगण का ख्याल सुनाना पड़ता है। 'सगण' (115) ख्याल का एक उदाहरण देखिये- "कर ले पट घूंघट ओट भटू, शशि आंगन को उजियार न हो। चलिये गति मंद मयंक मुखी, पग पायल की झनकार न हो।" (कवि स्व० भोगीलाल सेठ)। रीतिशास्त्र के अनुसार सगण में प्रथम दो अक्षर लघु तथा तीसरा दीर्घ होता है। पूरी पंक्ति में अक्षरों का यही क्रम रहता है।

इसी प्रकार यदि विषय की दृष्टि से एक ख्यालबाज ने खण्डिता नायिका या बसंत या सिंहावलोकन (कथा-प्रसंग) का ख्याल सुनाया तो प्रतिद्वंदी को भी खण्डिता नायिका के जवाब में खण्डिता नायिका का, बसंत के जवाब में बसंत का या सिंहावलोकन के जवाब में सिंहावलोकन का ख्याल सुनाना पड़ता है। सिंहावलोकन का एक उदाहरण देखें -

'तकत पराई नार पिया तुम, अपनी हठ क्यों नही तजत।
तजत न जग की मात, नाथ के शठतावश ना चारण तकत।"

यह कुण्डलिया शैली का सिंहावलोकन है- तो प्रतिस्पर्द्धी को कुण्डलिया शैली का ही सिंहावलोकन ख्याल सुनाना पड़ेगा। वरना वह मात खा जायेगा। ख्यालबाजी में एक और परंपरा रही है, मौलिक सुनाने की। डायरी को पढ़कर सुनाने की अनुमति नहीं होती थी। इस प्रकार ख्याल गायक की अनेक विशेषतायें दृष्टि गोचर होती है। पहला, उसकी स्मरण शक्ति अच्छी होनी चाहिये। । छंदशास्त्र का ज्ञान होना चाहिये। प्रत्युत्पन्नमति होना चाहिये ताकि प्रतिद्वंदी का ख्याल सुनकर तुरंत निर्णय लेकर उसी शिल्प तथा भाव का ख्याल सुना सके।

ख्यालबाजी की सबसे खास बात यह है कि इसके ग्रामीण श्रोता भी पारखी होते थे। भाव तथा शिल्प की परख गांव के अनपढ़ लोगों को भी होती थी। वे ही इस प्रतिद्वंदी-गायन के असली निर्णायक होते थे। वे मात खाने वाले ख्याल गायक की ढपली छीनकर भगा देते थे। इस प्रकार ख्यालबाजी गायक तथा श्रोता का साझा-कार्यक्रम था।

ख्यालबाजी की जवाबी-प्रतियोगिता का एक दुष्परिणाम सामने आया-ख्याल

सहित्य को छिपाने का। दूसरे के हाथ न लग जाये, वरना प्रतिस्पर्द्धी से मात खानी पड़ सकती है – इस विचार से ख्यालबाज अपने साहित्य को अपने परिवार या अखाड़े के शिष्यों तक को ही देते थे अथवा बस्तों में बंद रखते थे। अनेक ख्यालबाज आशुकवि भी होते हैं। इन कारणों से ख्यालबाजी की बुंदेलखण्ड में समृद्ध परंपरा के बावजूद ख्याल–संग्रह नहीं छपे। फड़ सहित्य के शोधकर्ता स्व0 डा0 गणेशीलाल बुधौलिया के अनुसार गुरसरांय के सेठ भोगीलाल गुप्ता (राघवदास सेठ के पिता) ने लगभग ढाई हजार ख्याल लिखे थे। वे 800–800 की तीन जिल्दों में थे। श्री राघवदास सेठ के अनुसार इनमें एक जिल्द दीमक खा गये हैं। दो जिल्दों में लगभग डेढ़ हजार ख्याल अभी भी उनके पास हैं। इसी प्रकार जालौन के चंदनगिरि तथा बल्देव प्रसाद कसगर ने भी काफी ख्याल लिखे थे। किसी जमाने में गंगाधर व्यास तथा ख्यालीराम स्तरीय ख्याल तथा फाग लेखक एवं गायक रहे हैं। कोंच के मन्नूलाल चौधरी तथा मोहनलाल दाऊ भी ख्याल के क्षेत्र में लोकप्रिय रहे हैं।

संगीत तथा लोकसंस्कृति से जुड़ी संस्थायें यदि ख्याल साहित्य के प्रकाशन पर ध्यान दें तो इस विलुप्तोन्मुख विधा को बचाने में मदद मिल सकती है।

•

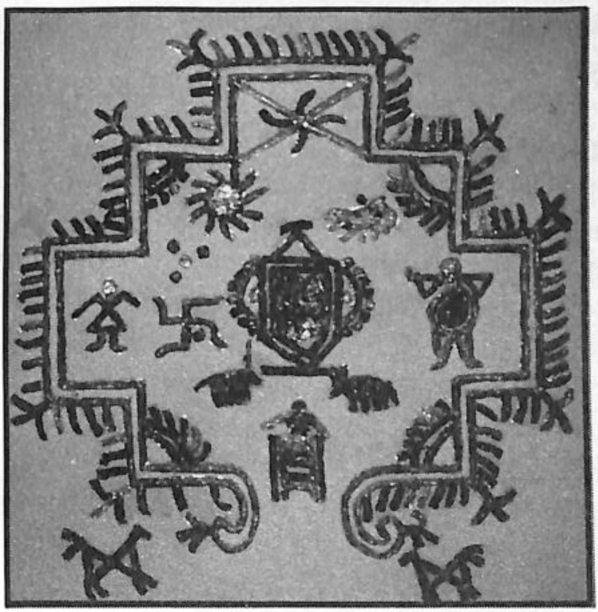

बुन्देली महिलाओं का लोकपर्व – 'कार्तिक नहान'

वैष्णवी आभा से दीप्त लोकजीवन पर राम और कृष्ण का व्यापक प्रभाव है। यहां के अधिकांश संस्कार राम–सीता तथा कृष्ण–राधा के जीवन प्रसंगों पर आधारित है। प्रत्येक परिवार में जन्मा बालक लोकगीतों की धुनों में 'राम' या 'नन्दलाल' है। वह कौशल्या या यशोदा की कोख से जन्मता सा लगता है। शिशु जन्म पर यहां अवध या ब्रज का सा उल्लास दिखता है। लोक मंगल के क्षणों में बुन्देली धरती पर ब्रज और अवध अवतरित हो जाता है।

इसी वैष्णव परम्परा में बुन्देली महिलाओं का लोकपर्व 'कातिक नहान' मन वांछित फल पाने की लालसा से मनाया जाता है। कृष्ण भक्ति से सराबोर वह सांस्कृतिक अनुष्ठान जहां एक ओर अध्यात्म तथा धर्म से प्रेरित है, वहीं दूसरी ओर लोक कलाओं की साधना का अनुपम उदाहरण है। इसके अन्तर्गत कार्तिक माह में कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी से शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा तक लोककला के विविध अंगों के साथ भक्ति का अविरल प्रवाह देखा जा सकता है।

बुन्देली लोक संस्कृति के सम्यक् अनुशीलन की दृष्टि से इस पर्व से जुड़े लोकगीतों, लोककथाओं, विविधलोक–कलाओं तथा आचार–विधान का विस्तृत अध्ययन स्वतन्त्र शोध का विषय है। इस आलेख में इस पर विहंगम प्रकाश डाला गया है। लगभग एक महीने पर्यन्त चलने वाला यह लोकपर्व बुन्देली महिलाओं के संयम, तप, कला–साध ाना तथा लोकरंजन का समन्वित स्वरुप प्रस्तुत करता है।

इस लोक पर्व में किसी गांव या मुहल्ले की महिलायें टोलियां बनाकर भाग लेती हैं। इन्हें 'कतकियारी' तथा टोली की प्रत्येक महिला को 'सखी' कहते हैं। बुन्देलखण्ड में ब्रह्म मुहूर्त में कतकियारियों के झुण्ड नंगे पैर प्रभाती गाते हुए हर गली में यत्र–तत्र देखे जा सकते हैं। इन कतकियारियों की कठोर आचार संहिता है। नित्य भूमि पर शयन, ब्रह्म मूहूर्त में सूर्योदय के लगभग दो–तीन घण्टे पूर्व जागरण बिना तेल या साबुन के स्नान करना होता है। केशों में कंघी, भोजन में नमक तथा पति समागम वर्जित है। यदि कोई कतकियारी विशेष परिस्थितियों में पति संसर्ग कर लेती हे तो उसे सखियों के समक्ष अपराध ा स्वीकार करना पड़ता है। कुछ सांकेतिक वाक्यों यथा 'कुत्ता छू गओ' 'कुरा फूट गये' आदि कहने से इस दोष का परिमार्जन कर लिया जाता है। अपराधिनी की आत्म स्वीकृति के बाद सभी सखियां उस पर व्यंग्य बाण छोड़ने से नहीं चूकती हैं।

इस लोक पर्व का श्रीगणेश कार्तिक कृष्ण चतुर्थी (गणेश चौथ), जिसे करवा चौथ के नाम से जाना जाता है, के दिन से होता है। इसमें भाग लेने की इच्छुक महिलायें उस दिन एक वस्त्र गॉठ बांधकर कातिक नहाने का संकल्प लेती हैं। यह गांठ अनुष्ठान पूर्ण होने के बाद खोली जाती है। इस दिन गणेश व्रत रखा जाता है। जो महिलायें

करवा चौथ का व्रत रखती हैं वे उसके साथ ही गणेश व्रत तथा गांठ बांधने का विधान करती हैं। जो महिलायें पूरे माह का व्रत विधान पूरा नहीं कर पाती हैं, वे संक्षेप में नहाती हैं। वे इच्छा नवमी (कार्तिक शुक्ल नवमी) को आंवले के वृक्ष के नीचे गांठ बांधकर संकल्प लेती हैं तथा शुक्ल पक्ष की दशमी से चतुर्दशी तक 'पचबिकियां' मनाती हैं। इन तिथियों में उन्हें व्रताहार रखकर कतकियारियों की आचार संहिता का पालन करना अनिवार्य है।

कतकियारी महिलायें ब्रह्म मुहूर्त में किसी तालाब, नदी, कुंए या अन्य जलाशय पर जाकर सामूहिक स्नान करती हैं। जहां यह सुविधायें नहीं हैं वहां घर पर स्नान करके कातिक–पूजा के निर्धारित स्थान पर आना होता है। कातिक पूजा का विशेष आचार विधान है। किसी मंदिर या देव चबूतरा पर एक छोटी चौकी, जिसे जनभाषा में 'चौंतरिया' कहते हैं, बनाई जाती है। उस पर नित्य सफेद वस्त्र बिछाकर रेत या मिट्टी से राधाकृष्ण, सूरज, चांद तथा बिरवा (तुलसी) के धूलि चित्र बनाये जाते हैं। तत्पश्चात लोक गायन होता है।

भोर के सन्नाटे को चीरते हुए इन कतकियारियों की मधुरिम स्वरलहरी सर्वप्रथम भगवान कृष्ण का जागरण तथा आह्वान करती हैं। यथा –

उठो मेरे कृष्ण भये भुनसारे
गऊअन के बंध खोलो सकारे
उठकें कन्हैया प्यारे मुकुट संवारे
सुघर राधिका दोहन ल्यायें। उठो मेरे.....
काहे की दोहन, काहे की लोई ?
काहे की हर गारें खोई ?
सोने की दोहन, पाटा की लोई
पीताम्बर हर गारें खोई। उठो मेरे .....

पूजा विधान के विभिन्न सोपानों से भरपूर यह लंबा गीत कई चरणों में पूरा होता है। उसके बाद दूसरी सखी तान छेड़ती है–

अब मन लागा, अब चित लागा
सेवरिया न चूकियो जसुदा के नन्दन आरती
जो मैं ऐसी जानती कि आहें आज कन्हाई
गैंयन के गोबर मंगाउती, ढिंग दै आंगन लिपाउती
मुतियन चौक पुराउती, पटरी देती डराय। जो मैं...
सोने के कलश मंगाउती, जल तौ लेती भराय
पूजा की थारी लगाउतीं, आरती लेती उतार। जो मैं....
धो धो गेंडन पिसाउती, कपड़न लेती छनाय।
छप्पन भोजन बनाउती, रुचरुच भोग लगाउती। जो मैं....
सोने के पलंग बिछाउती, उर हरि कों लेती पोंड़ाय
हरि के चरन दबाउती, मन चाहत फल पाउती। जो मैं....

कृष्ण के आने की संभावना के साथ ही उनके लिये भवन बनाने को कारीगर बुलाने का गीत गाया जाता है–

गग जमुन बारु रेवता में, बारु रेवता की
तबई की थप थप होय अहो राम जी
बनइयो श्री कृष्ण जू को बैठका बैठका
रानी रुकमनी की दालान अहो राम जी।

कृष्ण के महल अधिष्ठापन के पश्चात् सखियां कातिक नहान के आचार विधान पर आधारित एक लोक गीत गातीं हैं–

कहत राधिका सुनो कन्हैया, कातिक कैंसे अन्हैंये।
राधे दामोदर बन जइयें। राधे ....।
नित्य सबेरें भोरई उठकें सखियन टेर लगइयें।राधे ....।
तेल तिली से त्यागन करियें, कोरे तटन नहइयें।राधे ....।
नौन तेल को त्यागन करियें, घिया गकरियां खइयें। राधे ....
खाट पिड़ी कौ त्यागन करियें,भू पै सैन लगइयें।राधे ...।

इसके साथ ही सखियों की लोकरागिनी राधाकृष्ण के प्रसंगों को स्मरण करती है–

नेंक पठै दो गिरधर जू कों मैया
गिरधारी मोरे हिरदै बसत है।
सो उनई के हांत लगै मोरी गइया। नैंक पठै दो...।
इतनी सुन कैं जसोदा मुस्क्यातीं
जाऔ जाऔ लाल लगा आऔ गैया। नैंक पठै दो...।

इन कोकिल कंठी स्वर लहरियों के पश्चात् लोक कथाओं का सिलसिला प्रारम्भ होता है। गणेश जी दस दिन के देवता विसरम्भो, तुलसी, बाल्मीकि, सत्यनारायण, रामचर्या आदि की कहानियां सखियां आपस में ही कहती सुनती हैं। इस बीच पूरब में सूरज की पौ फटते देखकर सखियां गाने लगती हैं–

उठौ सूरज देव कलाधारी
कश्यप जू के पुत्र धनुषधारी। उठौ ....।
उठौ री सूरज जू की मैया, लाल कों जगा देओ।
सारी दुनियां है अंधियारी । उठौ ....।
उठौ री सूरज जू की मैया दहिया बिलोऔ
छारें खड़ी एक छछियारी। उठौ ....।
उठौ रे पंछीड़ा भैया मारग चलियें।
सिर पै गठरी है भारी। उठौ ....।
आधी नगरी में बम्मन, बनियाँ
आधी नगरी में प्यारी घरवारी। उठौ ....।

सूर्य जागरण का गीत पूरा होते ही गांव के पंडित जी आ जाते हैं। वे वहीं चौंतरिया पर विराजमान भगवान (धूल आलेखन) का पूजन विधि पूर्वक कराते हैं।

आचमन, पान–समर्पण दर्पण; झूला के बाद कातिक व्रत का महात्म्य सुनाते हैं फिर सभी सखियां भगवान की परिक्रमा करती हैं नित्यप्रति कोई एक सखी क्रम से भगवान

को अपने घर ले जाकर जलाशय में विसर्जित कर देती है। यह क्रम दीपावली के पूर्व चतुर्दशी (नरक चौदस) तक चलता है। कतकियारियां उसी दिन मौन व्रत रखकर करई तमरियां किसी जलाशय में विसर्जित कर देती हैं। यह इस बात का प्रतीक है कि श्रीकृष्ण यमुना में कहीं छिप गये हैं। अगले दिन से घाटों घाटों श्रीकृष्ण को खोजने का प्रयास सखियां करती हैं। कतकियारियां कृष्ण को ढूंढने विभिन्न नदी, तालाबों आदि पर जाती हैं, वहीं स्नान करती हैं। वहां सखी छेड़ने का लोकनाट्य होता है। इसके अन्तर्गत दो टोलियां बनती हैं–एक पुरुषों की तथा दूसरी कतकियारियों की। पुरुष गोप तथा सखा बनकर सखियां छेड़ने, माखन छीनकर खाने आदि का अभिनय करते हैं। सखियों की छेड़ाखानी की यह लोकनाट्य लीलायें अत्यन्त रोचक होती हैं। यह लोक नाट्य परम्परा भैया दूज तक चलती है। उस दिन श्रीकृष्ण मिल जाते हैं। उसी दिन उसी चौकी पर राई दामोदर की स्थापना करके नवमी तक पूजन का क्रम चलता है।

दशमी से चतुर्दशी तक पचबिकियां मनाते हैं। इन दिनों कतकियारियां व्रत रखतीं तथा फलाहार ही लेती हैं। चतुर्दशी के दिन 'भीतपाखे का डला' चढ़ाते हैं इसके अन्तर्गत मकान के विभिन्न अंगों यथा खपरैल, दरवाजे, खिड़कियां, दीवालें आदि को व्यंजन पकवान के रुप में बनाते हैं भगवान के आभूषणों के भी पकवान बनाये जाते हैं। चतुर्दशी के दिन में विष्णु तुलसी के विवाह का आयोजन किया जाता है। इसमें धूमधाम से बैंडबाजों के साथ बारात निकाली जाती है। विवाह की डलिया के रूप में भीत पाखे का डला देते हैं। भीगी पलकों से दान दहेज के साथ तुलसी की विदा होती है। अनेक निःसंतान महिलायें कन्यादान का पुण्य प्राप्त करने के लिये तुलसी का विवाह का आयोजन करती हैं।

पूर्णिमा की रात्रि में कतकियारियां किसी तालाब, नदी, नहर या जलाशय पर एकत्र होती हैं। वे कागज की नाव बनाकर उस पर आटा के कुछ प्रज्ज्वलित दीपक रखकर उस नाव को जलाशय में प्रवाहित करती हैं। पूर्णिमा की चांदनी के उज्ज्वल प्रकश में सैकड़ों–हजारों दीपकों का झिलमिल प्रकाश अद्‌भुत दृश्य उपस्थित करता है। पूर्णिमा को कतकियारियां निराहार व्रत रखती हैं। अगले दिन 'ग्वाल–चबैनी' (भींगे चना, लइया, भूंनी हुई मूंगफली आदि का मिश्रण) बांटकर वे अन्न ग्रहण करती हैं।

इस प्रकार कातिक नहान का लोक पर्व पूरा हो जाता है। महिलाओं में अधिक से अधिक संख्या में कातिक नहाने की ललक होती है। तप–साध्य तथा व्यय–साध्य होने के बाबजूद अनेक महिलायें ग्यारह तथा इक्कीस कातिक नहाने का संकल्प करती हैं। जिस वर्ष अधिमास पड़ता है, उस वर्ष के कातिक नहान को विशेष महत्व दिया जाता है।

टेसू

टेसू बुन्देली लोक परम्पराओं में गाया जाने वाला एक लोक गीत है। डा0 रवीन्द्र भ्रमर द्वारा हिन्दी साहित्य कोश में दी गयी टिप्पणी के अनुसार यह लोकगीत ब्रज में भी लोकप्रिय एवं प्रचलित है। यह गीत किसी टेसू नामधारी वीर पुरूष की स्मृति में गाया जाता है जो उसके वैभव, शौर्य, अड़ियलपन तथा जबरन चौथ बसूलने की प्रवृत्ति का संकलित चित्र प्रस्तुत करते हैं। टेसू के मूल स्थान का उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में नहीं मिलता है। किन्तु यह निश्चित है कि उसके शौर्य प्रसंग दूर–दूर तक चर्चित रहे हैं तभी तो वह ब्रज से बुन्देलखण्ड तक अपने स्मृति–चिन्ह छोड़ गया।

बुन्देली लोक परंपरा में 'सुआटा' नामक एक खेल है जिसे किशोर–किशोरियाँ एक माह तक खेलते हैं। इसी के अंतर्गत शारदीय नवरात्रि से शरद पूर्णिमा तक यह गीत गाया जाता है। यहाँ सुआटा की परम्परा पर भी संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक है। 'सुआटा' बुन्देलखण्ड के किशोर–किशोरियों का क्रीड़ात्मक उपासना विधान है जिसे बुन्देली संस्कृति का विशिष्ट लोकात्सव कहा जा सकता है। यह भाद्रपद पूर्णिमा से आश्विन पूर्णिमा (शरद पूर्णिमा) तक पाँच चरणों में पूरा होता है।

1. सुआटा के प्रथम चरण में 'मामुलिया' खेली जाती है। यह किशोरियों का खेल है जो भाद्रपद पूर्णिमा से आश्विन कृष्ण अमावस्या तक चलता है। इस अबधि में किशोरी बालिकायें पूर्वाभिमुखी दीवाल पर एक आयताकार आलेख बनाती है। जिसके चारों ओर बेलबूटे तथा अंदर ऊपर की ओर दोनों कोने में सूर्य तथा चन्द्र चित्रित होते हैं। सायंकाल किशोरी बालिकायें झुण्ड बनाकर घरों से निकलती हैं। तथा बेर या बबूल की बांटेदार टहनी लेकर उसे पुष्पों से सजाकर, दुलहिन सा बनाकर गीत गाती हुई गली–गली घूमकर जंगल की ओर जाकर सूर्यास्त के बाद इस टहनी को, जिसे सज्जित रूप में 'मामुलिया' कहते हैं, प्रतिदिन किसी जलाशय में विसर्जित कर दिया जाता है। तत्पश्चात् वे किशोरी बालिकायें उक्त वर्णित सुआटा आलेख के पास एकत्रित होती हैं तथा गाती हुई उस आलेख पर गोबर की थपियाँ चिपकाती हैं। तत्पश्चात् चंद्रमा को साक्षी मानकर तथा वन्दन करके अपने–अपने घरों को लौट जातीं हैं। प्रातः वे थपियाँ उसमें से निकालकर एकत्रित रख ली जातीं हैं। तथा अंतिम दिन उन थपियों को जलाशय में विसर्जित कर देते हैं।

2. सुआटा के द्वितीय चरण में 'नौरता' खेल होता है। यह आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से अष्टमी तक नवरात्रि में चलने के कारण नौरता कहलाता है। इसके अंतर्गत 'सुआटा' नामक दैत्य राजा की प्रतिमा गोबर से बनाकर रत्नों की प्रतीक कौड़ियों से उसे अलंकृत करते हैं तथा प्रतिदिन उस दैत्य प्रतिमा को दुग्ध स्नान कराया जाता है एवं गौरी प्रतिमा स्थापित करके उसकी भी नित्य पूजा की जाती है। यह पर्व उस दैत्य की विवशतापूर्ण पूजा तथा उससे मुक्ति हेतु गौरी की प्रार्थना का प्रतीक है। अष्टमी को सामूहिक भोज 'भसकूँ' होता है जिसमें किशोर–किशोरियाँ सम्मिलित होते हैं। बालिका का विवाह हो जाने के बाद

उसे सुआटा खेल से मुक्ति लेने हेतु सुआटा उजाना पड़ता है। जो बालिकायें सुआटा खेलती रहीं हैं वे विवाहोपरान्त पड़ने वाले इस लोकपर्व में नवमी के दिन सुआटा उजाती हैं।

3. तृतीय चरण में बालक 'टेसू' खेल खेलते हैं। यह आश्विन शुक्ल अष्टमी से शरद पूर्णिमा तक चलता है। इस लेख का प्रतिपाद्य यही टेसू खेल तथा उसे खेलते समय गाया जाने वाला लोकगीत है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

4. चौथे चरण में बालिकायें नवमी से चतुर्दशी तक 'झिंझिया' खेलती हैं। इसे ढिरिया भी कहते हैं। मिट्टी के एक घड़े में उपरी भाग में सैकड़ों छेद करके, घड़े के अंदर अनाज तथा उसके ऊपर प्रज्जवलित दीपक रखकर ढिरिया बनाते हैं। इसे लेकर किशोरियाँ द्वार-द्वार जाकर पैसा या अनाज माँगती हैं।

5. पाँचवें चरण में ये बालक-बालिकायें मिलकर टेसू तथा झिंझिया (ढिरिया) का ब्याह रचाते हैं। बालक टेसू की बारात धूम धाम से लेकर झिंझिया के घर जाते हैं। महिलायें झिझिया नृत्य करतीं हैं। सारी वैवाहिक रस्में पूरी होकर खेल समाप्त हो जाता है।

इस लेख का प्रतिपाद्य 'टेसू' है अतः हमने इसके अंतर्गत आने वाले प्रसंगों की उक्त चर्चा केवल पृष्ठभूमि समझने के लिये की है। उन प्रसंगो की विस्तृत चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है। किन्तु इस लोकपर्व से जुड़ी लोक कथा को समझ लेना आवश्यक है। उसका सारतत्व इस प्रकार है। सुआटा नामक एक दैत्य किशोरी कन्याओं को परेशान करता था। जब वे सहेलियों के साथ वनविहार को जातीं, वह दैत्य उन्हें परेशान करता, छेड़ता तथा पूजा करने को बाध्य करता था। बालिकायें चन्द्राबलि तथा सूरजबलि नामक ध र्म-भाइयों से रक्षा की याचना करतीं तथा उनके संरक्षण में सुरक्षित घर पहुँचने की अनुमति लेकर वनों से चलतीं थीं। फिर भी दैत्य की छेड़ाखानी जारी थी। कन्यायें माँ गौरी से भी प्रार्थना करतीं थी-उस दैत्य से मुक्ति के लिये। इसी बीच 'टेसू' नामक वीर का उदय होता है। वह सुआटा को परास्त करके झिझिया के साथ ब्याह रचाता है। विवाह के पश्चात् सुआटा का अंग-प्रत्यंग लूटा जाता है, हाथ पैर तोड़कर फेंक दिये जाते है। उसके रत्नालंकृत आवरण तथा आभरण की प्रतीक कौड़ियाँ लूटकर लोग घर ले जाते हैं। विजय पर्व पर अर्जित संपत्ति की प्रतीक यह कौड़ियाँ, तिजोरी में रखना लोग शुभ मानते हैं।

लोक साहित्य के पुरोधा विद्वान बाबू कृष्णानन्द गुप्त ने एक भेट में मुझे बताया था कि टेसू बंगाल में धान के तृण की फसल आने का प्रतीक है, वहाँ वह धान से बनाते हैं तथा प्रकारान्तर से बंगाल में भी यह खेलते हैं। 'टेसू' व्यक्तिवाचक संज्ञा है, अतः शब्द व्युत्पत्ति के विस्तार में जाना प्रासंगिक नहीं है।

डा0 सुरेखा जैन ने अपने अप्रकाशित शोध प्रबंध 'बुन्देलखण्डी लोकगीतों में उपासना का स्वरूपों में जिन तीन किंवदंतियों की चर्चा की है उनमें से एक के अनुसार "टेसू राक्षस सुआटा राक्षस तथा उसकी पुत्री ढिरिया (झिंझिया) को सताता था। अंत में समझौता हुआ और सुआटा को टेसू के साथ झिंझिया का विवाह करना पड़ा। अभी भी टेसू

खेलने वाले लड़के चोरी–छिपे सुआटा नामक राक्षस के हाथ पैर तथा नाक–कान काट लेते हैं।"

लोककथाओं में पात्रों की स्वरूप भिन्नता की जो प्रवृत्ति देखने को मिलती है उसका प्रभाव टेसू पर भी है। उपर्युक्त दो लोककथाओं को ही लें। एक में टेसू रक्षक के रूप में है, दूसरे में प्रेमासक्त। सत्यता कुछ भी हो किन्तु यह लोककथा चिरकाल से किशोर–किशोरियों के मनोरंजन तथा विवाह संस्था संबंधी ज्ञानवर्द्धन का व्यवहारिक साध न रही है।

कुछ लोग 'टेसू' को लोक देवता के रूप में परिगणित करते हैं किन्तु हिन्दुओं के देवी देवताओं में कहीं उनका नामोल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक जीवन में जो प्रेरक पुरूष के रूप में जन स्वीकृति प्राप्त कर सके वे लोक देवता पद पर प्रतिष्ठित हो गये। बुन्देलखण्ड के गाँव–गाँव में लोक देवता 'हरदौल' अपने आदर्श कृतित्वं के कारण लोकव्याप्ति पा सके। संभव है, टेसू को लोक देवता मानने वालों की उक्त धारणा रही हो किन्तु टेसू की पूजा गंभीर पूजा विधान में नहीं होती है। अपितु खेलों में ही उनकी चर्चा आती है, अतः उनकी गणना लोक देवता के रूप में करना उचित नहीं है। दूसरी ओर हरदौल बुन्देली लोक संस्कृति में एक अनिवार्य देवता हैं, जो शुभ कार्यो के प्रारम्भ से नवदंपत्ति के गृह प्रवेश तक सर्वत्र पूजित, वंदित एवं गाये जाते हैं।

टेसू गीत तथा खेल की अवधि शारदीय नवरात्रि से आश्विन पूर्णिमा तक है। कहीं यह पूरी नवरात्रि कहीं अष्टमी से चतुर्दशी तथा कहीं नवमी से पूर्णिमा तक खेला जाता है। किन्तु नवरात्रि में प्रारम्भ होने के कारण साहित्यकारों ने इसे शारदीय नवरात्रि में गाया जाने वाला लोक गीत माना है। हिन्दी साहित्य कोश तथा सम्मेलन के मानक कोश में टेसू गायन की अवधि यही मानी गयी है। डा0 सुरेखा जैन के शोध प्रबंध 'बुन्देलखण्डी लोक गीतों में उपासना का स्वरूप' में यह लिखना त्रुटिपूर्ण एवं भ्रामक है कि "टेसू पितृपक्ष में बालकों द्वारा सामूहिक रूप से खेला जाने वाला मनोविनोदात्मक खेल है। पितृपक्ष में टेसू गाने की परम्परा मुझे कहीं देखने–सुनने या पढ़ने को नहीं मिली।

टेसू खेलते समय बालक बांसों की खपचियों से बनी एक पुरुषाकृति हाथों में लेकर चलते हैं। इसे ही टेसू कहते है। कहीं–कहीं इसे पुतले का रूप देकर पूर्ण वीरवेश में हाथों में तीर कमान अथवा तलवार लिये हुये बनाते हैं। इसके सिर पर मुकुट या साफा तथा शरीर पर राजसी अलंकरण होता है। किन्तु कहीं–कहीं केवल तीन बांसों की खपचियों पर एक सिर मात्र रखकर घुमाते हैं। डा0 सत्य गुप्ता ने 'खड़ी बोली के लोक साहित्य' में लिखा है कि कृष्ण द्वारा बभ्रुवाहन को मूर्ख बनाने की स्मृति में टेसू खेला जाता है। कहा जाता है। कि महाभारत कालीन योद्धा बभ्रुवाहन को मरणोपरान्त (शमी वृक्ष पर रखे अपने सिर से) महाभारत युद्ध देखने का वरदान मिला था। इस कथानक के रूप में तीन लकड़ियाँ शमी वृक्ष तथा उस पर रखा सिर बभ्रुवाहन का प्रतीक है। कुछ संदर्भो के अनुसार उक्त कथानक बर्बरीक से संबंधित है न कि बभ्रुवाहन से।

टेसू खेलने में किशोर बालक एक झुण्ड के रूप में टेसू का पुतला लेकर सड़कों, गलियों तथा मुहल्लों में निकालते हैं। उसके शौर्य गीत गा–गाकर द्वार–द्वार घूमकर पैसा अथवा अनाज उगाहते हैं। पूर्णिमा के दिन संचित अनाज का नकदीकरण करके टेसू का विवाह संपन्न कराते हैं।

लोकगीतों में टेसू यद्यपि एक उद्धारक के रूप में चित्रित है किन्तु बुन्देली लोकजीवन में वह बने–ठने हास्यास्पद दिखने वाले व्यक्ति का पर्यायवाची बन गया हे। लोग ऐसे व्यक्ति को देखकर कहने लगते है, वह टेसू सा लगता है।

टेसू के लोकगीत अनादि अनन्त हैं। न उनका प्रारंभ प्रामाणिक हैं, न अंत। तमाम सारी ऊटपटांग बातों एवं मनोविनोदी प्रसंगों को भी इनमें जोड़कर द्रोपदी के चीर–सा लंबा करते बालक थकते नहीं हैं। उनमें टेसू गीत प्रारंभ करते ही आशु कविता की प्रतिभा जाग जाती है। इस लेख में हमने परवर्ती पृष्ठों में इस लोकगीत के जो उद्धारण दिये हैं वे संभव हैं साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि में घटिया लगें किन्तु यथार्थपरक रूप में उन्हीं के कारण उनकी प्रस्तुति भी आवश्यक है। ऊटपटांग तथा संदर्भहीन बातों को भी बालक किस प्रकार रोचकता के साथ प्रस्तुत करते हैं, यह समझना इस गीत के मनोविनोदात्मक पहलू को उजागर करने के लिये, आवश्यक है। अलग–अलग स्थानों तथा अलग–अलग झुण्डों द्वारा गये जाने वाले लोकगीतों को समग्र रूप में रख कर ही टेसू की समन्वित तस्वीर सामने आती है। अनेक लोक गीतों के पाठों में कुछ प्रारम्भिक पंक्तियां टेसू के शौर्य तथा वीरवेश की झलक प्रस्तुत करती हैं–

टेसू आये वानवीर
हाथ लिये सोने का तीर
एक तीर से मार दिया
राजा से व्यवहार किया।
नौ मन पीसें, दस मन खाँय
घर घर टेसू माँगन जाँय
पड़वा बोले आँय, आँय, आँय।

एक गीत में कुछ वर्णन इस प्रकार आता है–

टेसू राय जब घंट बजायें
नौ नगरी दस गाँव बसायें।
टेसू राय की सात बहुरियाँ
नाचें कूदैं चढ़ैं अटरियाँ।

ऐसा टेसू वीर कई अट्टालिकाओं वाले भवन में अपनी सात रानियों के साथ रहता है। उसकी विजयवाहिनी के घण्टों की आवाज से नगर बसते और उजड़ते हैं।

कुछ अन्य गीतों में कुछ और विचित्र कथन हैं–

टेसू मूतें घर बल्लाय,
चकिया चलौ सब बह जाय
नौंन कौ डबला घरई में रै जाय।

XXXXXXXX

टेसू टेसू काँ गये ते,
हथिया खिलाउन गये तें।
हथिया ने कीक मारी
दौरे परे पच्चीसा
पच्चीसन की जोड़ी आई
बिलैया जूझ गई
सास बहू रूठ गई।
सास कौ टूटौ घूँटौ
बहू कौ करम फूटौ।''

XXXXXXXX

इमली की ताड़ ताड़ चढ़ी पतंग
हाथी घोड़ा लै गये डंक
डंका बांकौ कैसौ बजै
बैरी सारौ हल हल कपै,
बैरी मों की कैसें खाय,
खाय खाय चौकड़िया खाय।
चौकड़िया कुल दिया बुझाय।

टेसू की इन विचित्र प्रशस्तियों के बाद पैसा मांगने की बात शुरू होती है, दाता की प्रशंसा तथा सदाशीष से–

''बड़ौ दुआरौ, बड़ी अटरिया
बड़ौ जानकें टेसू आये,
मेंड़न मेंड़न रौंसा फूलै
बन फूले कचनार।
सदा बखरिया ऐसें फूलें
जी में हाथी झुकें दुआर।
ई में हाथी झुकें हजार।''

किन्तु जब दाता का दिल नहीं पसीजता। वह पैसे नहीं देता है, तो टेसू अपना अड़ियलपन प्रकट करते हैं। लड़के गाने लगते हैं–

''टेसू अगड़ करें, टेसू झगड़ करें
टेसू लैई कें टरें।
टेसू कौ गई कोऊ न खाय,
खाय खाय चौकड़िया खाय।

XXXXXXXX

टेसू बब्बा हेंई खड़े
खाबे कों मागें दही बड़े
दही बड़े में मिर्चा भौत
कल जानें है कानी हौद ।
कानी हौद पै चढ़ी पतंग

बापै लेटे टेसू मलंग
टेसू मलंग ने दई तलवार
कूँद परे 'फलाने' परवार।

ये बालक फलाने के स्थान पर उस व्यक्ति का नाम देते हैं– जिसके दरवाजे मांगने आते हैं। फिर भी जब पैसा नहीं मिलता है–तो बालक जोर जोर से चिल्लाते हैं–

"एक पैसा होता तो पन्नी मंगवाते
पन्नी अच्छी होती तो टेसू सजवाते।
टेसू अच्छा होता तो महल बनवाते।
महल अच्छा होता तो चक्की लगवाते,
चक्की अच्छी होती तो आटा पिसवाते
आटा अच्छा होता तो पूड़ी बनवाते,
पूड़ी अच्छी होती तो सास को खवाते,
सास अच्छी होती तो गधा पै बैठाते,
गधा अच्छा होता तो डण्डा लगवाते।
डंडा अच्छा होता तो चूल्हे में जलाते।
चूल्हा अच्छा होता तो नदी में बहाते
नदी अच्छी होती तो टेसू मलंग नहाते।"

यदि इतना गाने पर पैसा मिल जाता है। तो बालक बड़े प्रसन्न होते हैं तथा गाने लगते हैं।

"हिरन खुरी भई हिरन खुरी
हिरना मांगै तीन खुरी
तीन पुरी कौ पाइया
देहरी दूध जमाइया
देहरी बैठे कूकरा
खुशी रहे तेरौ पूतरा"

कभी–कभी कोई वाचाल बालक व्यंग्य बाण छोड़ देता है।

"टेसू आये धूम से
टका निकारौ सूम सें।"

जब तक बालकों को पैसा या अनाज नहीं मिलता है–वे गाते रहते हैं। टेसू को माध्यम बनाकर जाने क्या–क्या ऊटपटांग बातें मिलाकर संदर्भहीन बातों को टेसू से जोड़कर समूहगान जारी रहता है। यह सचमुच मनोरंजक भी बन जाता है। देखें–

"ए.बी.सी.डी.ई.एफ.जी.
बामें निकरे पंडित जी।
पंडित जी ने बांचौ चिट्ठा।
बामें निकरौ नाऊ कौ पट्ठा।
नाऊ के पट्ठा ने मूड़ौ मूड़,
बामें निकरौ पेड़ कौ ढूँड़।
पेड़ के ढूँड़ में लग गई सुर्ती,
बामें निकरी लाल लाल कुर्ती।

लाल कुर्ती में बन गऔ खाना,
बामें निकरौ तोपखाना।
तोपखाने में बन गई खीर,
बामें निकरे गंजे फकीर।
गंजे फकीर ने बनाई मड़ैया,
बामें निकरे सात बढ़ैया।
सात बढ़इयन ने बनाऔ पलंग
बापै बैठे टेसू मलंग।"

किसी वृद्ध व्यक्ति को देखकर ये बालक उछलने कूदने लगते हैं। हाथ में टेसू लिये, उनका निशाना वह बेचारा बुड्ढ़ा बन जाता है वे गाते हैं–

"बब्बा बब्बा काँ गये ते
पतरी छोड़ हँगन गये ते।
पतरी लै गऔ कउआ
बब्बा हो गऔ नउआ।
नउआ ने मूड़ौ मूड़
बब्बा हो गये, रै गये डूँड़।
डूँड़ में धरदऔ अंगरा,
बब्बा हो गये बंदरा।
बंदरा ने चुगी बाती,
बब्बा हो गये हाँती।
हाथी ने धरी गैल, बब्बा हो गये बैल।
बैल की टूटी अनियां, बब्बा हो गये बनियाँ।
बब्बा ने बाँटी सिन्नी, बब्बा हो गये हिन्नी।
हिन्नी ऊलै खेत में बब्बा घुस गये रेत में।"

इस प्रकार ऊट–पटांग बातें मिलाकर टेसू के सैकड़ों गीत मिलते हैं। जो पैसा देता है वह भी मनोविनोदी गीत सुनने के लिये 'और सुनाओ' कहकर बालकों को उकसाता है तथा चटखारे ले लेकर सुनता है...और काफी देर बाद पहले एक पैसा, अधन्ना मिलता था अब पाँच पैसे। लेकिन बेचारे बालक इतने अल्पांश के लिये भी यह गाते हैं।

टेसू के खेल या गाने में अमीर-गरीब का अंतर नहीं होता है। बड़े आदमियों (धनिकों) के पुत्र भी टेसू लेकर मांगने निकलते हैं। यह भिक्षा नहीं टेसू का हक है। बुन्देलखन्ड के गांवों में लोग वर्ष भर इंतजार करते हैं कि कब क्वाँर के महीने का उत्तरार्द्ध आये और टेसू दरबाजे पर मांगने आये.

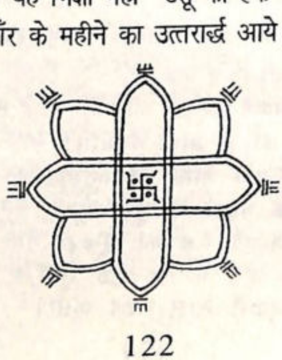

बुन्देली लोकपरम्पराओं की वैज्ञानिकता

बुन्देलखण्ड की लोकसंस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। यहां की लोकपरंपराओं तथा रीतिरिवाजों के अनुशीलन से पता चलता है कि ये वैदिक जीवन से प्रभावित तथा विज्ञान–सम्मत हैं। संस्कार, रीतिरिवाज, पर्व–त्यौहार, लोकाचार एवं दैनिक चर्चा के अनेक कार्य जिस वैज्ञानिकता का संकेत देते हैं उससे प्रतीत होता है कि इस अंचल के सामाजिक मनीषियों ने सामान्य जीवनशैली को विज्ञान–संगत एवं पर्यावरण बोधक बनाने का महनीय प्रयास किया था। जीवन शैली का लोकव्यापीकरण इस चतुराई से किया गया कि उसमें वैज्ञानिकता का सहज प्रवेश हो गया। उस जीवन शैली ने पीढ़ी दर पीढ़ी चलकर परंपरा का स्वरुप ग्रहण कर लिया। घर का कोई अनपढ़ बालक महिला या पुरुष अपने दैनिक कार्यों को यह सोचकर नहीं करता है कि वह कोई विज्ञान सम्मत आचरण करने जा रहा है। वह तो मात्र इसलिये ऐसा करता है क्योंकि उसके घर, परिवार अथवा समाज के लोग परंपरागत रुप से, लोकरीति में वैसा करते आये हैं। लोक परंपरा का अविरल प्रवाह, विज्ञान की संजीवनी से बुन्देली लोकजीवन को अभिसिंचित करता आया है। इस विषय को गहराई से समझने के लिये हमें पर्वों त्यौहारों, पूजा विधान तथा लोकरीतियों को बारीकी से देखना होगा।

शिशु जन्म को ही ले लें। शिशु जन्म के तुरन्त, पश्चात् सोहर गृह (प्रसव कक्ष) में अजवायन का धुंआ देने की परंपरा है। अजवायन का आयुर्वेदीय गुण पर्यावरण का शोधन तथा वातावरण को गर्म बनाये रखने का है जो उस समय की आवश्यकता होती है।

शिशु जन्म के पश्चात् जच्चा को तुरन्त, गुड़ को देशी घी में उबालकर बनाया गया, 'हरीरा' पिलाया जाता है। तदनन्तर गुड़ बर्फी (सिटौरा) तथा गुड़ से बने सोंठ बिस्वार के लड्डू खिलाये जाते हैं। सुदूर गांव में, शिक्षा की किरण से दूर अनपढ़ दादी मां यह कहां जानती हैं कि प्रसव के दौरान हुये रक्त स्राव से शरीर में रक्त की जो न्यूनता हुई है उसकी प्रतिपूर्ति सर्वाधिक लौहतत्व से भरपूर 'गुड़' सहज कर सकता है। पुनश्च, यह हर जगह उपलब्ध है। वह दादी मां तो हरीरा 'सिटौरा' या लड्डू बहू को इसलिये खिलाती हैं क्योंकि उसके परिवार और समाज में पीढ़ियों से ऐसा होता आया है।

जच्चा को 'पीपरामूर' नामक जड़ी बूटी चूसने को दी जाती है। यह लड्डुओं में तथा अन्य रुप में भी दी जाती है। प्यास कम करने से लेकर अन्य अनेक विशिष्टताओं से समन्वित पीपरामूर घर की घिनौची (बगिया) में ही पैदा करने की लोक परंपरा है। एक लोकगीत की पंक्ति है – "घिनौंचिन पीपरें महाराज"। इस प्रकार इस आयुर्वेदीय औषधि को घर में ही उत्पादित करके उसकी उपलब्धता सहज हो जाना सुनिश्चित किया जाता है।

जच्चा का प्रथम स्नान लगभग एक सप्ताह बाद नीम की पत्ती डालकर उबाले गये पानी से कराया जाता है। 'सर्वरोग हरं निम्बं' की गुणवत्ता भावप्रकाश निघण्टु में 'निम्ब पत्रम् स्मृतं नेत्रं कृमि पित्त विष प्रणुत' लिखकर बताई गई है। उसी दिन जनन अशौच के शुद्धीकरण हेतु प्रसव कक्ष गोबर से लीपा जाता है तथा अजवायन का धुआं प्रतिदिन जारी

रहता है। गोबर के गुणों में कृषि–नाशकता तथा देशजता से सभी परिचित हैं।

जन सामान्य जानता है

उसी दिन घर के बाहर गोबर से लीपी गई दीवाल पर गोबर से एक चक्राकार सांतिया बनाकर उस पर जौ के दानों की नौंके बाधाओं के मुकाबले की प्रतीक तथा जौ धन–धान्य एवं एवं समृद्धि का प्रतीक है। चक्राकार सांतिया गतिशीलता तथा प्रगति का प्रतीक है। यह विघ्नहर्ता गणेश का लिपीय स्वरुप है।

प्रसवोपरान्त लगभग एक माह तक जच्चा को 'चरुआ का पानी' पिलाने की लोकपरंपरा है। चरुआ मिट्टी का घड़ा होता है। उसमें जल भरकर, दशमूल जड़ी बूटियां तथा वनस्पतियां डालकर इतना उबाला जाता है कि पानी छनक कर आधा रह जाय। इसे ठण्डा करके जच्चा को पिलाया जाता है। विज्ञान सम्मत इस प्रयोग को समारोह–पूर्वक किया जाता है। पुरा–पड़ोस की महिलाओं को बुलौआ देकर बुलाया जाता है। 'चरुआ' को गोबर तथा जौ के दानों से अलंकृत किया जाता है। 'चरुआ–चढ़ाने' के बुलौआ का बटौना बांटा जाता है। विज्ञान के अनुष्ठान का लोक सम्मान परंपरा बन गया है।

कुछ दिनों पश्चात् नवजात शिशु को घृत, मधु, स्वर्णकण आदि चटाने की परंपरा है। यह सभी पदार्थ शोधक, विकारनाशक तथा देह पुष्ट करने वाले हैं।

शिशु कुछ माह का होने पर उसके मुण्डन संस्कार की परंपरा है। समारोह पूर्वक होने वाले इस मुण्डन में बेसन की लोई मस्तक पर फेरने या लेपन की परंपरा है। बेसन कृमि नाशक है। यह बाल काटते समय उत्पन्न हुये घाव के संक्रमण से बचाने का लोक विज्ञान है। एक महिला (प्रायः बुआ) मुण्डन के समय काटे गये बालों को गीले आटा या बेसन में लपेटती जाती है। बाद में इस लोई को जलाशय में विसर्जित किया जाता है। उसमें व्याप्त कृमि लोक–व्याप्त न हो सकें अतः यह क्रिया लोकहित में है।

बुन्देली लोकजीवन में एक और संस्कार है 'कर्णछेदन'। कान और अथवा नाक के कुछ बिन्दुओं को छेदा जाता है। यह भी समारोह पूर्वक मनाया जाता है। यह संस्कार आज सुविकसित 'एक्यूप्रेसर' चिकित्सा प्रणाली का लोक संस्करण है। इसी भांति विवाहोपरान्त महिलाओं को बिछिया पहनाने अथवा सन्यासी बनने पर खड़ाऊँ पहनने का विधान है। पैर की कुछ अंगुलियों विशेषकर अंगूठे के पास की अंगुली का संबंध कामोत्तेजना पैदा करने वाली नसों से है। बिछिया पहनने अथवा खड़ाऊँ पहनने से उस बिन्दु पर दबाव बनता है। कान पर जनेऊ चढ़ाने से मूत्र नलिकाओं पर दबाव बनता है। अतः लघुशंका अथवा शौच जाते समय जनेऊ चढ़ाने का लोक विधान है। जो जातियां जनेऊ नहीं पहनती हैं, वह शौच जाने के पूर्व अंगौछा सिर के ऊपर इस प्रकार बांधते हैं कि सिर के ऊपर की संबंधित नसें दबीं रहें। इससे पेशाब या शौच खुलकर होती है।

इसी प्रकार मस्तक पर टीका लगाने से आज्ञा–चक्र जागृत होता है। इससे इन्द्रिय निग्रह होता है। पूजा पर बैठने के पूर्व मस्तक पर चंदन लगाने की लोक परंपरा है। इससे शीतलता और सुरभित वातावरण मिलता है।

लोकांचल में पहने जाने वाले आभूषण विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन का विषय

हैं। पैरों में भारी पैंजना, हाथों में मोटे ककना तथा गले में भारी हंसली (खंगौरिया) पहनना केवल समृद्धि–प्रदर्शन या सौन्दर्य के लिये नहीं, स्वास्थ्य के लिये लाभकारी है। बुन्देलखण्ड के आभूषणों की संरचना तथा वजन एक्यूप्रेशर प्रणाली के अनुरुप किन बिन्दुओं प्र कितना दबाब बनाता है, इस पर शोध अपेक्षित है। डा0 कमल प्रकाश अग्रवाल ने अपने आलेख 'आभूषण द्वारा शरीर एवं स्वास्थ्य को लाभ' (स्वागत–इंडियन एयर लाइंस पत्रिका, अक्टूबर 1998) में आभूषणों को सौन्दर्यवर्द्धक होने के साथ तथा विज्ञान संगत माना है।

अब आइये बुन्देलखण्ड के किसी ठेठ गांव के घर में "चौका" (रसोई कक्ष) में चलें। यह गोबर तथा पुतना मिट्टी से लीपा पोता गया साफ सुथरा कमरा होता है। किसी अलमारी के एक आले में शालिग्राम–भगवान की पत्थर की बटैया रक्खी होती है। यही इनका देवालय है। रोजाना इनका स्नान तुलसीदल मिश्रित जल से कराकर उस जल को तांबे के किसी पात्र में भरकर रक्खा जाता है। इसे सभी सदस्यों को प्रसाद के रुप में बांटा जाता हैं जब भोजन बनता है तो उसकी पहली लोई (ग्रास) अग्नि को (चूल्हे में डालकर) समर्पित करते हैं फिर थाली ठाकुरजी के सामने जाती है। सभी भोज्यपदार्थों पर तुलसी पत्र डालकर परिवार के सदस्यों में बांटते है। इसके पश्चात् भोजन के कुछ कौर गाय तथा श्वान के लिये निकालकर रख दिये जाते हैं। यह वैदिक कालीन बलिवैश्वदेवयज्ञ की परंपरा का ही अनुसरण है। इसके पश्चात परिवार के सदस्यों का भोजन इसी चौके में बैठकर होता है।

एक सर्वेक्षण में ज्ञात हुआ कि गांव के अधिकांश लोग गोबर से लिपे पुते–चौका में बोरा चटाई या लकड़ी का पाटा बिछाकर उस पर बैठकर भोजन करते हैं । कुछ वृद्ध लोग थाली भी पाटे पर रखते हैं। वे भोजन करने के पूर्व पानी से भरे गिलास या लोटे को अंगुलियों से बजाकर ध्वनि पैदा करते हैं, फिर जल का वृत्त थाली के चारों ओर बनाकर हाथ जोड़ने के पश्चात् भगवान का स्मरण करते हैं। भोजन कर चुकने के उपरान्त थाली के चरण स्पर्श करके उठते हैं। संभवतः यह पूरी प्रक्रिया विज्ञान सम्मत है। पहले तो गोबर से लिपे पुते स्थान पर छोटे छोटे कीट चींटी आदि नहीं आयेगी। कुछ गिलास से निकली ध्वनि सुनकर ठिठक जावेंगे और यदि कुछ चींटियां आदि इसके बाबजूद आने का साहस करेंगे तो जल का घेरा उनका मार्ग रोक देगा। भोजन करने की यह लोक परंपरा रसोई कक्ष में भोजन स्थल को कीटमुक्त करने का लोक विधान है। अंत में थाली का चरण स्पर्श भोजन के प्रति सम्मान या कृतज्ञता ज्ञापन है।

प्रत्येक घर के आंगन में तुलसी–बिरवा लगाना शुभ मानते हैं। उसे लक्ष्मी का स्वरूप मानकर पूजा करना उसके तुलसीदल को प्रतिदिन भोजन या प्रसाद में ग्रहण करना, प्रतिदिन उस पर जल चढ़ाकर उसे पोषित करना तथा रात्रि में उसके सामने दीपक रखकर दीपदान करना सामान्य लोकपरंपरा है। तुलसी का पौधा दीपक के प्रकाश में प्रकाश–संश्लेषण क्रिया करता है। इससे रात्रि में भी ऑक्सीजन निकलती है तथा घर का वातावरण प्राणमय हो जाता है। इसी गुण के आधार पर पीपल (अश्वत्थ) को पूज्य माना जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने वृक्षों में 'मैं अश्वत्थ हूं' कहकर स्वयं उसे अपना (विष्णु का) अवतार घोषित कर दिया। पीपल विष्णु का अवतार है, तुलसी 'लक्ष्मी' स्वरुपा है। इसीलिये कार्तिक स्नान करने वाली बुन्देली

महिलायें अपनी तुलसी का विवाह विष्णु–रुप शालिग्राम से करती हैं। पेड़–पौधों में देवत्व की यह प्रतिष्ठा भरने की लोक भावना कोई पागलपन नहीं है। अपितु यह एक मनौवैज्ञानिक प्रभाव है। जिसक द्वारा आम आदमी इन वृक्षों की रक्षा, देवताओं की रक्षा करने जैसा संकल्प लेकर ,करता है। यहां तुलसी, पीपल, बरगद, आंवला क्षेंकुर और केला की पूजा का विधान पर्यावरण के प्रति लोक शिक्षण का उपक्रम है।

नीम का वृक्ष दरवाजे पर लगाना मांगलिक माना जाता है। एक अनुमान के आध ार पर नीम के सर्वाधिक वृक्ष भारत में हैं तथा भारत में भी बुन्देलखण्ड में। यहां नीम के औषधीय उपयोग लोक परंपरा में समादृत हैं। नीम का वर्णन अनेक लोकगीतों में मिलता है। नीम तथा आम्र की मंजरी खाने की परंपरा है। नीम की दातुन करना नित्यकर्म का अंग है। चेचक निकलने पर रोगी के पलंग पर कहीं नीम की पत्तों का झोंका रखने, कहीं पलंग में पत्ती बांधने और कहीं नीम की पत्ती से रोगी को हवा करने की परंपरा हैं। शव दाह करने के पश्चात् घर में प्रवेश के पूर्व हाथ पैर धोकर नीम की पत्ती खोंट कर खाने का लोकविधान तथा लोक शिष्टाचार है। यदि कोई अन्त्येष्टि यात्रा में सम्मिलित व्यक्ति बिना नीम की पत्ती खोंटे घर चला जाय तो इसे असामाजिक माना जाता है। इसके पीछे यह निहितार्थ प्रतीत होता है। कि यदि मृतक को कोई बीमारी रही हो तो उसके शरीर में व्याप्त रोग के कीटाणु अन्तिम यात्रा में सम्मिलित जनों के शरीर में वायु के माध्यम से प्रवेश कर सकते हैं। नीम की पत्ती कृमि नाशक होने के कारण उनका संक्रमण रोकती है। नीम का अधिकाधिक प्रयोग करने की यह लोक परंपरा विज्ञान सम्मत है।

कुछ और परंपराओं को परखा जाय। घर में चेचक निकली है। लोकमान्यता हैं कि देवी निकली है, इसलिये रोगी के कमरे को लिपा पुता सुगंधित रक्खा जाता है। जूते बाहर उतारकर पैर धोकर ही रोगी–कक्ष में प्रवेश अनुमन्य है। रोगी के चादर बिछावन सफेद होना चाहिये क्योंकि देवी को श्वेतरंग प्रिय है। पर्यावरण शुद्धता का यह लोकविधान है। चेचक निकली होने पर घर में सब्जियों का छौंका लगाने, नाई से बाल बनवाने तथा धोबी के यहां कपड़े धुलने डालने का लोक निषेध है। क्योंकि इससे चेचक के संक्रामक रोग के कीटाणु अन्य परिवारों में उड़कर संक्रमण फैल सकते हैं। अतः इनका वर्जन व्यापक लोकहित में है। एक तर्क और दिया जाता है कि यदि सब्जी के छौंका से निकली तेज गंध के कारण रोगी के निकट बैठे किसी व्यक्ति को छींक आ जाये तो उससे निकली बूंदें (ड्रापलेट्स) रोगी के चेचक के दानों में पुनः संक्रमण पैदा कर सकते हैं। जूता चप्पलों के माध्यम से घर के भीतर आई गंदगी भी संक्रमण पैदा कर सकती है, अतः जूता चप्पल बाहर उतारना, देवी के सम्मान की धार्मिक भावना के साथ विज्ञान सम्मत भी है। नीम की पत्ती का धुंआ करने से भी अनेक कीड़े मच्छर भग जाते हैं। अतः इनकी वैज्ञानिकता स्वयंसिद्ध है।

ग्रामीण जनों का पीली मिट्टी से स्नान करने को साबुन से स्नान करने वाले मजाक उड़ाते हैं किन्तु प्राकृतिक चिकित्सा ने इसे उपयोगी माना है।

•

कोंच की रामलीला

विश्व के सुदूर अंचलों में भी जिस मर्यादा पुरूषोत्तम की लीलाओं का अनुकरण करके नर–नारी आत्मानन्द प्राप्त करते हों, अनुष्ठानपूर्वक लोक परम्परा में विकसित जिसका विश्व व्यापी रंगमंच हो–उस आह्लादकारी शक्ति का नाम है 'राम'। रामायण इन्हीं दशरथ नन्दन राम की पावन यशोगाथा है। इसका लोक–संस्करण महाकवि तुलसी और कम्बन जैसे कवियों ने 'रामचरितमानस' और 'कम्ब–रामायण' के रूप में जन–जन तक पहुँचाया। टर्की से चीन, जापान, मंगोलिया, मध्य एशिया, इण्डोनेशिया, मलयेशिया, श्रीलंका, थाईलैण्ड, वर्मा, लाओस, कंबोडिया नेपाल तथा भारत में उत्तर से दक्षिण तक रामलीला की लोक–व्यापी परम्परा विविध–शैलियों में प्रचलित है। भारत में

सर्वाधिक चर्चित वाराणसी की रामलीला है–जहाँ उसके तीन प्रमुख स्वरूप चित्रकूट–रामलीला, तुलसी की अस्सीघाट रामलीला तथा रामनगर की रामलीला हैं। रामनगर की रामलीला की अपनी विशिष्टतायें हैं राम लीला की इस लोकनाटय परम्परा के बिबिध स्बरूप बुन्देलखण्ड में देखने को मिलते हैं। इनमें कुछ स्थानो पर स्थानीय कलाकार एवं रामलीला का मंचन एबं आयोजन करते है। तथा स्थानो पर बाहर के कलाकार आकर अनुबधिंत –आधार पर मंचन करके चले जाते है। इसमें पूर्वबर्ती राम लीलाओं में स्थानीय बैशिस्टय सामने आते है।

रामलीला की इस परम्परा में एक विशिष्ट स्वरूप उत्तर प्रदेश राज्य के जालौन

जनपद के कोंच नगर में देखने को मिलता है। यहाँ लगभग डेढ़ सौ वर्ष प्राचीन रामलीला का इक्कीस दिवसीय अनुष्ठानिक आयोजन नगर के विभिन्न स्थानों, मंचों, देवालयों, बाग–बगीचों में लीला तथा मेला के रूप में अत्यन्त मर्यादा के साथ किया जाता है। रामलीला के पांच प्रमुख पात्रों को राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुधन, तथा सीता की 'मूर्ति' मानकर वेदमंत्रों से उनका अभिषेक करके उनमें 'देवत्व' की प्रतिष्ठा की जाती है। पात्र किराये अथवा पारिश्रमिक पर नहीं आते हैं। नगर की रंगमंचीय–प्रतिभायें ही संपूर्ण लीलाओं में स्वेच्छया निःशुल्क अभिनय ही नहीं करते हैं अपितु रामलीला समिति को आर्थिक सहयोग भी देते तथा दिलाते हैं। इस रामलीला के आयोजन से नगर में रंगमंच के विविध पक्षों का अभूतपूर्व विकास हुआ। यह रामलीला न केवल उत्तर भारत की लोकनाट्य परम्परा का विशिष्ट अध्याय है अपितु मंचीय लोक कलाओं में जन सहभागिता का अनुपम उदाहरण है। इसका अध्ययन, सर्वेक्षण एवं अभिलेखीकरण एक सामयिक आवश्यकता है।

कोंच बुन्देलखण्ड का प्राचीन तथा समृद्ध नगर है। यह लखनऊ–झांसी रेलमार्ग तथा राजमार्ग स्थित एट नामक ग्राम (स्टेशन) से चौदह किलोमीटर दूर पश्चिम में स्थित है। अंतर्राज्यीय व्यापार का प्रमुख केन्द्र होने के कारण कोंच को रेल पथ से जोड़ने के लिये केवल चौंदह किलोमीटर लंबी रेलवे–लाइन 1906 में, कानपुर–झांसी सेक्सन के एट जंकशन से कोंच नगर तक बिछाई गयी थी। कोंच नगर के चारों ओर सुन्दर सघन बाग हैं, जिनमें देवालय हैं। 'हिस्ट्री आफ म्युटिनी' के लेखक म्योर ने कोंच को 'बुन्देलखण्ड का उद्यान' कहा है। कला के विविध पक्षों का यहां समुचित विकास हुआ है। मरहठा शासन काल में यहां नगर के मध्य एक विशाल पक्का सरोवर गोविन्द–सागर (वर्तमान 'सागर तालाब') का निर्माण कराया गया था। दो सौ गज वर्गाकार इस तालाब के चारों ओर पक्के सीढ़ियोंदार घाट हैं। चारों कोनों पर कलात्मक गुम्बज थे, जो अब क्षतिग्रस्त हो गये हैं। यहां कपास का बड़ा मिल था। सन् 1840 में यहां बावन बैंकिंग घराने थे (जिला गजेटियर 1921 पृष्ठ 173)। यहां से देशी घी तथा नमकीन गोश्त का निर्यात होता था। प्रमुख जिन्सों के पक्के सुनियोजित बाजार रूईहाई बाट(कपास), गुरहाई बाट, (गुड़) कर्नलगंज (गल्ला), सराफा, बजाजा, पसरट, नमक हाता, मवेशी बाजार तथा मणिहार चौक (वर्तमान मानिक चौक) था। इनमें सबसे सुन्दर 'मणिहार चौक' था जो लगभग सौ गज वर्गाकार बना था। यह चौक चारों दिशाओं में ऊँचे द्वारों से रक्षित था। शतरंज की विसात की भांति पक्के मार्ग तथा चारों ओर सुन्दर दुकाने थीं। इनमें 'सागर तालाब' तथा 'मणिहार चौक' रामलीला से सम्बन्धित होने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

कोंच नगर में 1860 ई0 के लगभग प्रारम्भ हुयी रामलीला, रामनगर (काशी) की रामलीला के लगभग समकालीन है। रामनगर की रामलीला 1830 ई0 में काशीराज उदित नारायण सिंह के संरक्षण में प्रारम्भ हुयी थी जबकि कोंच की रामलीला यहां के एक रईस चौधरी बिहारी लाल निकटवर्ती ग्राम पड़री से 1860 ई0 में यहां लाये थे। रामनगर की रामलीला राजकीय संरक्षण में विकसित हुयी। जबकि कोंच की रामलीला जनसहयोग से

पोषित हुई तथा राजकीय संरक्षण से उपेक्षित रही। लगभग डेढ सौ वर्ष प्राचीन यह रामलीला अनेक मर्यादाओं तथा विशिष्टताओं के साथ आज भी लोकप्रिय है।

कोंच की रामलीला के प्रारम्भ होने की एक कहानी है। कोंच के पूर्व में तीन किमी0 दूर स्थित ग्राम पड़री में रामलीला का पारम्परिक मंचन होता था। इसकी चारों ओर ख्याति थी। दूर–दूर के धर्मनिष्ठ व्यक्ति उसे देखने जाते थे। एक बार वहां के दो गुटों में संघर्ष हो गया। उसकी पंचायत निबटाने चौधरी बिहारी लाल पड़री गये तथा वहां की रामलीला से प्रभावित होकर वहां के सजीव–विग्रह (मूर्तियाँ) कोंच तक अपने कन्धों पर ले आये। उन्होंने मार्ग में एक कुण्ड पर तथा एक बाजार में जिन स्थानो पर विश्राम हेतु पड़ाव किये जिससे उनके नाम क्रमशः रामकुण्ड तथा रामगंज कर दिये गये।

मणिहार चौक के पश्चिम की ओर चौधरी बिहारीलाल की हवेली थी इसमें कलात्मक तहखाने थे। उन्हीं में मूर्तियों को ठहराया गया तथा प्रथम बार धनुषयज्ञ का मंचन मणिहार चौक के प्रांगण में हुआ। रामलीला समिति के दो पुराने कार्यकर्ता सर्वश्री टेकचन्द्र नगाइच एवं हरदास बाबूजी जनश्रुतियों के आधार पर इसका प्रारंभ 1870 ई0 से मानते हैं। चौधरी बिहारीलाल के एक वंशज स्व0 पं0 महादेव प्रसाद चौधरी ने लगभग दो दशक पूर्व उक्त घटना का विवरण सुनाते हुये मुझे बताया था कि कोंच में रामलीला आने की घटना उनके परिवार की वृद्ध महिलाओं के बताये अनुसार गदर (प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम) के दो तीन वर्ष बाद की है। इस प्रकार कोंच में रामलीला का प्रारम्भ सन् 1860 में ई0 में माना जा सकता है। कालान्तर में यहां पर रामलीला के विशाल भवन का निर्माण मणिहार चौक में 1957 ई0 में पं0 रामनारायण वैद्य तथा रामदयाल सर्राफ के विशेष प्रयास से सम्पन्न हो सका।

चौधरी बिहारी लाल ने नगर के कलाप्रेमी तथा धर्मनिष्ठ नागरिकों के परामर्श से रामलीला की विभिन्न रामलीलाओं का नियोजन इस प्रकार किया कि कोंच के चारों ओर बिखरी प्राकृतिक सुषमा के प्राकृतिक परिवेश में लीलाओं का मंचीकरण हो सके। विभिन्न बाग–बगीचों में स्थित देवालयों के प्रागंण में भिन्न–भिन्न लीलाओं का मंचन प्रारम्भ हुआ। पुष्य नक्षत्र में मूर्तियों (राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा सीता) का वेद मंत्रों से अभिषेक करके उनमें देवत्व की प्रेरणा प्रतिष्ठा की गयी। प्रत्येक लीला के पश्चात् मूर्तियों का विमान उस दिशा में स्थित नगर की गलियों एवं प्रमुख मार्गों से होकर भ्रमण कराने की तथा चौधारी हवेली तक वापिस लौटने की व्यवस्था की गयी ताकि श्रद्धालुजन भगवान का पूजन आरती करके श्रद्धानिधि भेंट कर सकें। नागरिकों द्वारा टीका–पूजन से प्राप्त श्रद्वानिधि रामलीला की आर्थिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण भाग होता था। निष्कर्ष यह है कि रामलीला का नियोजन लोक नाट्य की कलात्मकता के साथ धर्मपरायणता तथा नगर में सांस्कृतिक चेतना जागरण हेतु जनसहभागिता के साथ किया गया। यह भी निश्चित किया गया कि स्थानीय रंगप्रेमी कलाकारों को ही अभिनय कार्य दिया जाय। इसके लिये उन्हें प्रशिक्षित किया जाय। किसी कलाकार को किराये अथवा पारश्रमिक पर न बुलाया जाये। रामलीला

से जुड़े रंगकर्मी ही श्रद्धापूर्वक रामलीला मंचित करें तथा करायें। केवल मूर्तियों को सश्रद्धा विदाई राशि देने की व्यवस्था की गई। इसी परम्परा का निर्वाह अब तक किया जा रहा है। यह रामलीला पारसी थियेटर शैली से प्रभावित है।

रामलीला का व्यवस्थापन मुख्य रूप से पांच विभागों में विभक्त है –

1– मूर्ति विभाग 2– एक्टर विभाग 3– सीनरी विभाग

4– डील विभाग 5– गश्त विभाग।

मूर्ति विभाग

यहाँ रामलीला का प्रमुख आकर्षण 'मूर्तियाँ' होती हैं। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा सीता की भूमिका के लिये चयनित पात्रों को मूर्ति कहते हैं। इनका चयन ब्राह्मण जाति के किशोरवय कुँवारे बालकों (16 वर्ष से कम) में से, रामलीला प्रारम्भ होने के पूर्व, पुष्य नक्षत्र में किया जाता है। सीता की भूमिका भी परंपरागत रूप से 'बालक' (पुरूष) ही करते हैं। आश्विन कृष्ण दशमी को हवन पूजन एवं वेदमंत्रों से अभिषिक्त करके मूर्तियों में देवत्व की प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। तत्पश्चात् मूर्तियाँ राज्याभिषेक (आश्विन शुक्ल पूर्णिमा) के दिन तक रामलीला समिति के द्वारा निर्धारित मर्यादा में, रामलीला परिसर स्थित मूर्ति विभाग के भवन में रहती हैं। वहां उनके आवास, भोजन, चिकित्सा, प्रशिक्षण तथा सेवा के लिये श्रृंगारिक, नाई एवं पंडित की व्यवस्था की जाती है। यह आवासीय परिसर पृथक तथा मर्यादित है। इस परिसर में जूता पहिनकर जाना, धूम्रपान, मद्यपान अथवा तामसी भोजन करना वर्जित है।

मूर्तियों के श्रृंगार हेतु 'श्रृंगारी' रहते हैं। मूर्तियों की नाप के राजसी एवं तापसी वेश बनवाये जाते हैं। राजसी तथा तापसी दोनों प्रकार के मुकुट एवं आभूषणों के सैट हैं। राजसी मुकुट, चवँर, सिंहासन, गदा, धनुषबाण चांदी के हैं। सीता जी की मुकुट–किरीट तथा हृदय–आभूषण स्वर्ण निर्मित हैं। शेष आभूषण चांदी के हैं। सोना तथा चाँदी से निर्मित आभूषणों आदि का एक सैट लगभग सत्तर वर्ष पूर्व रामलीला समिति को स्व. बद्रीप्रसाद सेठ सिकरी वाले ने दान में दिया था।

एक्टर विभाग

रामलीला का साहित्य एक्टर विभाग के अंतर्गत रहता है। इसका लेखन/संपादन समय–समय पर स्थानीय विद्वानों द्वारा रामचरितमानस्, राधेश्याम रामायण, केशव कृत राम चन्द्रिका पर आधारित गद्य–पद्य मिश्रित संवादों के अतिरिक्त स्थानीय कवियों यथा काली कवि, फणीन्द्र, दयालु जी, आदि के काव्यांशों को सम्मिलित करके किया गया है। अनेक पात्र, एक्टर विभाग की अनुमति से कुछ संवाद/काव्यांश जोड़ लेते हैं। पिछली बार यहां की लीलां के साहित्य का संपादन 1960 ई0 के लगभग पं0 प्रभुदयालु द्विवेदी 'दयालु' तथा पं0 चतुर्भुजदास वैद्य आदि द्वारा किया गया था। उसी से पात्रशः संवाद उतारकर प्रतिवर्ष चयनित पात्रों को दे दिये जाते हैं। प्रतिवर्ष प्रत्येक लीला के पात्रों का चयन नये सिरे से एक्टर विभाग द्वारा किया जाता है। इसका लीलाशः चार्ट बनाया जाता है।

राम द्वारा वंदनीय पात्रों तथा हनुमान की भूमिका केवल ब्राह्मण जाति कें पुरूषों को ही दी जाती है। महिला पात्रों की भूमिका भी पुरूष ही निर्वाह करते हैं। रंचमंच के अध ुनातन विकास के बावजूद महिलाओं का पात्र के रूप में चयन नहीं किया जाता है ताकि रामलीलां मंच की पारंपरिक मर्यादा को क्षति पहुंचने की सम्भावना न रहे।

रामलीला रंगमंच पर कुछ धार्मिक/सामाजिक नाटक खेलने की परंपरा है। इससे कोंच में रंगमंच का पर्याप्त विकास हुआ किन्तु एक्टर विभाग के कठोर प्रतिबन्ध पर उन पर भी लागू है। उनका उल्लंघन करने वाली संस्थाओं को नाटक अन्यत्र मंचित करना पड़ता है। इस प्रसंग में एक घटना विशेष रूप से उल्लेखनीय है –

1963 ई0 में स्थानीय मैचलेस क्लब ने आगाहश्र कृत 'सीतावनवास' नाटक को 'रामराज्य' नाम से रामलीला रंगमंच पर मंचित करने की अनुमति प्राप्त की। उसमें राम की भूमिका प्रकाश पाराशर ,भरत की नवल बिहारी शुक्ल,लक्ष्मण की भूमिका वशीर अहमद, शत्रुघ्न की मैं (अयोध्याप्रसाद 'कुमुद') तथा सीता की केदारनाथ अग्रवाल कर रहे थे। रामलीला समिति ने उक्त नाटक की अनुमति निरस्त कर दी थी। इसके लिये जो कारण बताये गये उनमें दो मुख्य थे (1) लक्ष्मण की भूमिका ब्राह्मणेतर व्यक्ति (विशेषकर मुस्लिम) कर रहा था। (2) धोबी द्वारा राम तथा सीता के बारे में अमर्यादित आरोप लगाया गया है। यह दोनों बातें इस रंगमंच की मर्यादा के विपरीत बताई गयीं। चूंकि नाटक की तैयारी पूरी हो चुकी थी, अतः चुनौती भरे माहौल में जिला परिषद विद्यालय के प्रांगण में विशाल मंच बनाकर नाटक की मंचन किया गया। उक्त नाटक जालौन जनपद में नाटकों के मंचन के इतिहास में अभूतपूर्व था। उसका विस्तृत विवरण एक स्वतंत्र लेख का विषय है।

एक्टर विभाग का अपना पोशाक अनुभाग है। कोई वेश किराये पर नहीं आता है। एक्टर विभाग की मांग पर रामलीला समिति पोशाकों का क्रय एवं निर्माण कराती है। कुछ पात्र अपनी पसन्द की विशिष्ट पोशाकें तथा मुकुट अपने स्तर पर लाते हैं तथा अपने निजी संरक्षण में रखते हैं। मुझे स्मरण है कि महिला भूमिकाओं के जीवन्त–कलाकार स्व0 पं0 महादेव प्रसाद चौधरी अपनी विशिष्ट पोशाकें, केश, मुकुट आभूषण बनवाकर अपने बक्से में रखते थे। उसी बक्से में वह अपने श्रृंगार की सामग्री भी रखते थे। वह अपना बकसा अपनी भूमिका के दिन स्वयं अपने साथ लेकर आते थे।

एक्टर विभाग के अंतर्गत एक 'समाजी' (सूत्रधार) भी होता है। जो मंच के बाहर एक पार्श्व में बैठकर लीला की पृष्ठभूमि तथा अप्रस्तुत दृश्यों का भाव बताता हुआ कथानक को सस्वर आगे बढ़ाता है। इसमें रामचरितमानस के काव्यांशों का बाहुल्य होता है। उसका वाद्यवृन्द उसके साथ रहता है।

जीवन्त अभिनय के लिये जिन दिवंगत कलाकारों को आज भी स्मरण किया जाता है उनमें सर्वश्री मुन्नालाल शुक्ल 'चच्चा' (दशरथ) महादेव प्रसाद चौधरी (कैकेयी/मंदोदरी) पं0 रामनारायण वैद्य (रावण एवं अंगद) स्व. रामस्वरूप रावत (दशरथ तथा अन्य) तथा शम्भूदयाल चौपड़ा उर्फ 'बच्चा खत्री' (हास्य अभिनेता) का नाम लिये बिना कोंच की

रामलीला की चर्चा अधूरी रहेगी।

सीनरी विभाग

रामलीला का सीनरी विभाग समृद्ध है। अनेक कलाकार एवं चित्रकार इससे संबद्ध हैं। विभिन्न प्रकार की दृश्यावलियों से चित्रित कलापूर्ण पर्दे हैं। जिनके रोलिंग–सिस्टम डोरियों के सहारे भारी बल्लियों पर बनाये गये हैं। कुछ पर्दे दो–भागों में 'साइड–रोल्स' भी किये जाते हैं। यह पर्दे स्थानीय एवं बाहर के कलाकारों द्वारा बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लीला का दृश्यानुरूप सैट–निर्माण का दायित्व भी सीनरी विभाग करता है। अधिकांश सैट्स रामलीला भवन में ही कलाकारों द्वारा बनाये जाते हैं।

डील विभाग

रामलीला का अपना 'डील विभाग' है। बॉस की खपंचियों लकड़ी तथा कागज से बड़े–बड़े पुतलों, धनुष, कंचन–मृग पंचवटी की कुटिया आदि का निर्माण यह विभाग करता है। सीनरी विभाग के लिये विशेष सैट निर्माण हेतु डील विभाग की मदद ली जाती है। दशहरा मेला हेतु दशानन रावण तथा मेघनाद के 40–50 फुट ऊँचे विशालकाय डील इसी विभाग के कलाकार बनाते हैं। इस विभाग द्वारा निर्मित कलाकृतियां लोकशिल्प के अच्छे नमूने प्रस्तुत करती हैं। वहीद अहमद तथा सलीम अहमद नामक दो कलाकार लगभग आधी शताब्दी से इस कार्य के लिये समर्पित हैं। लोकशिल्प के प्रति कलाकारों की बढ़ती उदासीनता के कारण उनका समुचित विकल्प अभी तक नहीं बन सका है।

गश्त विभाग

रामलीला के नियोजन में मूर्तियों के विमान को प्रतिदिन नगर के विभिन्न मार्गों पर नगर भ्रमण कराने की परम्परा को 'गश्त' कहते हैं। जिस भ्रमण–पथ पर विमान जाना है, उस दिन उस की सफाई, रोशनी, सुरक्षा, आरती पूजन, भोग–प्रसाद, जन संपर्क आदि की व्यवस्था 'गश्त विभाग' देखता है।

चौ0 बिहारी लाल के निधन के पश्चात् लीला का संचालन हवेली से ही उक्तानुसार यत्र–तत्र होता रहा। उसके प्रबंधक कछ दिनों पं0 मज़बूत सिंह तिवारी (बंगला वाले) रहे। पं0 रामगोपाल पाठक के पालिकाध्यक्ष बनने पर मानिक चौक में एक पक्का विशाल चबूतरा बनाकर, कुछ विशेष लीलाओं को छोड़कर शेष को, यहीं अस्थायी मंच बनाकर मंच पर कराने का निर्णय लिया गया। धर्मादा रक्षिणी सभा का गठन 1927 में होने के बाद इसका संचालन हवेली से सभा के कंधों पर आ गया। सभा ने 'रामलीला समिति' नामक उपसमिति गठित की तथा गल्ला व्यापारी संघ ने गल्ला बाजार में प्रत्येक माल की आमद पर निश्चित प्रतिशत से धर्मादा–कटौती की स्थानीय परंपरा डालकर सशक्त वित्तीय आधार दिया।

लीलायें उनके स्थान तथा क्रम –

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं प्रारंम्भ में रामलीला का आयोजन कोंच में भिन्न–भिन्न स्थानों पर होता था। इनमें तीन प्रारम्भिक स्थलों (मठिया, बड़ा मन्दिर तथा

मणिहार चौक)के अलावा कोंच नगर के चारों ओर बने उद्यान स्थित देवालय प्रमुख थे। इनका विवरण निम्न प्रकार है–

प्रथम दिन– (हवन पूजन) मठिया, रामगंज के पश्चात् रामजन्म तथा कृष्ण जन्म लीला रामकुण्ड मैदान (कोंच का पूर्वी छोर पर)।,

दूसरे दिन– ताड़का वध तथा पुष्प वाटिका लीला– कालेश्वर महादेव मंदिर (नायक का मठ) (कोंच का पूर्वी दक्षिणी छोर पर)।,

तीसरे दिन– धनुषयज्ञ लीला – मणिहार चौक (तखतों के मंच पर) (कोंच के केन्द्र में)

चौथे दिन– श्री राम बारात – चौधरी हवेली से चलकर बजरिया में खत्री भवन(जनकपुर) (दक्षिणी पश्चिमी छोर पर)।,

पांचवें दिन– रामबनवास लीला– मनोहर पंसारी का बगीचा, नदी गांव रोड (उत्तरी छोर पर)।

छठवें दिन – सरयूपार/केवट संवाद लीला – (सागर–तालाब, बाजार में) बल्दाऊ जी मंदिर के सामने (मुख्य बाजार में) मेला के रूप में।,

सातवें दिन– भरतमनौआ – भुंजरया तालाब स्थित पंचमुखी हनुमान मंदिर का बगीचा (उत्तरी पश्चिमी छोर पर)।,

आठवें दिन –मरीच वध मेला (गढी पर) तथा ऋषि संवाद एवं जयन्त लीला– चँःडाराय तालाब (बड़ी माता के सामने) पश्चिमी छोर पर।

नवें दिन – बालि वध– किष्किन्धा टीला पर (खुर्रम शाह तकिया के आगे) (दक्षिण पश्चिमी छोर पर)

दसवें दिन –अशोक वाटिका, रावण हनुमान संवाद तथा लंका दहन लीला– शम्भूशाह का मंदिर, रेलवे लाइन के पार (पूर्वी दक्षिणी छोर पर)।,

ग्यारहवें दिन–रामेश्वर स्थापना एवं सेतुबन्ध लीला– श्री लंकेश्वर हनुमान मंदिर (धुनताल के पश्चिम में) पूर्वी दक्षिणी छोर पर।

बारहवें दिन– राम–रावण युद्ध, रावण–वध लीला एवं दशहरा मेला– धनु ताल (पूर्वी दक्षिणी छोर पर)

तेरहवें दिन– भरत मिलाप लीला– बड़ा मंदिर बजरिया, दक्षिणी छोर पर।

चौदहवें दिन –रामदरबार– मठिया रामगंज बाजार (मुख्य बाजार)

पंद्रहवें दिन– राम राज्याभिषेक – मणिहार चौक,(मुख्य बाजार)

पिछली सदी के सातवें दशक में एक महत्वपूर्ण घटना यह हुयी कि पं0 कालीचरण बसेड़िया 'कान्त' द्वारा रचित 'बालि वैभव' नाटक को 'बालि वध लीला' का पूर्वार्द्ध मानकर उसे रामलीला के साहित्य में जोड़ना स्वीकार किया गया।

आजकल इक्कीस दिवसीय आयोजन आश्विन कृष्ण 10 से आश्विन शुक्ल 15 तक होता है। हिन्दू पंचांग के अनुसार धनुषभंग लीला अमावस्या को रावण वध, दशहरा

विजयदशमी को तथा राज्याभिषेक पूर्णिमा को होना तय है। वर्तमान में लीलाओं का क्रम निम्न प्रकार है–

प्रथम दिन– नारदमोह, दूसरे दिन – रामजन्म, तीसरे दिन – रामकुण्ड गमन, चौथे दिन – ताड़का वध, पांचवें दिन – पुष्पवाटिका, छठवें दिन – धनुषयज्ञ, सातवे दिन – श्री राम बारात (खत्री भवन तक) आठवें दिन – राम वनगमन, नवें दिन – मेला सरयू पार (सागर तालाब पर) तथा दशरथमरण लीला (रामलीला मंच) पर, दसवें दिन – भरत मनौआ, ग्यारहवें दिन – ऋषि संवाद, बारहवें दिन – मारीच वध मेला (गढ़ी के मैदान में), तेरहवें दिन – बालिवध लीला, चौदहवें दिन – लंकादहन, पंद्रहवे दिन – अंगद रावण संवाद, सोलहवें दिन – रामरावण युद्ध (दशहरा मेला) (धनुताल का मैदान) सत्रहवें दिन – भरत मिलाप लीला (बजरिया स्थित बड़ा मन्दिर के तिराहे पर) अठारहवें तथा उन्नीसवें दिन – नगर भ्रमण, बीसवें दिन रामदरबार तथा इक्कीसवें दिन – राम राज्याभिषेक। उक्त लीलाओं में धनुषयज्ञ, राम बनवास, लंकादहन, तथा रावण अंगद संवाद अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय लीलाये हैं। इन लीलाओं के दिन दर्शक दीर्घायें खचाखच भर जाती हैं। बैठने का स्थान मुश्किल से मिलता है। लीला के प्राचीन स्थानों पर आज भी प्रतीक मंचन हेतु 'मूर्तियां विमान' से जाती हैं तथा उस क्षेत्र का 'गश्त' करके वापिस लौटती हैं। गश्त के दौरान स्थान स्थान पर मूर्तियों का पूजन, आरती, प्रसाद–वितरण एवं चढौती की श्रद्धामयी परंपरा है। अठारहवें तथा उन्नीसवें दिन (नगर भ्रमण के दो दिनों) तथा रामलीला समाप्त होने के पश्चात् – रामलीला रंगमंच पर सामाजिक धार्मिक नाटकों का मंचन स्थानीय सांस्कृतिक संगठनों द्वारा किया जाता है।

रामलीला से संबंधित मेले

रामलीला के उक्त लीला क्रम में सरयूपार, मारीच वध तथा राम–रावण युद्ध का मंचन दिन में पारंपरिक मेला के समय होता है। इन मेलों में भारी भीड़ आज भी रामलीला की लोकप्रियता प्रमाणित करती है।

सरयूपार मेला– यह मेला आश्विन शुक्ल तीज को नगर के मध्य में स्थित ऐतिहासिक मरहठा कालीन तालाब 'सागर तालाब' के तट पर लगता है। इस तालाब के चारों ओर सीढ़ियों से युक्त पक्के घाट बने हैं। इन पर दर्शक बैठ जाते हैं। पश्चिमी घाट पर बने मंदिर के चबूतरे पर केवट–संवाद के उपरान्त राम लक्ष्मण जानकी, नौका पर बैठकर, सरयू (सागर तालाब) पार करके पूर्वी घाट के मध्य (बल्दाऊ जी मन्दिर– धर्मशाला के सामने बने चबूतरे पर) नौका से उतरकर निषादराज को उतराई देते हैं।

मारीच–वध मेला–यह मेला आश्विन शुक्ल षष्ठी को लगता है। इसे स्थानीय शब्दावली में 'हिन्नाकुश का मेला' कहते हैं। तहसील भवन के निकट गढ़ी के नीचे मैदान में पश्चिम की ओर पंचवटी बनाई जाती है। वहां संवाद के उपरान्त राम कंचन –मृग का वध करने जाते हैं। लम्बे मार्ग पर हिरन का दौड़ना तथा उसके पीछे राम का दौड़कर वध करते जाना अत्यन्त आकर्षक दृश्य होता है। मार्ग के दोंनों ओर दर्शक खडे हो जाते हैं।

इसके पश्चात् पंचवटी में रावण को भिक्षा दान, सीता हरण तथा जटायु रावण युद्ध की लीलायें होती है।

दशहरा मेला – यह मेला विजयदशमी (आश्विन शुक्ल दशमी) को स्थानीय धनुताल के मैदान में लगता है। तिथिक्षय/वृद्धि होने की स्थिति में भी, कोंच नगर में, इसी मेले के दिन विजयदशमी का त्योहार मनाया जाता है। यह जालौन जनपद का सबसे विशाल मेला है जिसमें तीस–चालीस हजार तक की भीड़ एकत्र होती थी। सुदूर ग्रामीण अंचलों से भी लोग दूर–दूर से इसे देखने आते हैं। मैदान में एक ओर पूर्वी छोर पर बहुमंजिली 'लंका' बनाई जाती है, दूसरी ओर लंकेश्वर हनुमान के निकट राम सेना का सैन्य–शिविर लगता है। ऊँची पीठिका पर बने लंकेश्वर हनुमान मन्दिर का निर्माण नगर के रईस बद्रीप्रसाद सेठ सिकरी वाले ने कराया था। लगभग चालीस–पचास फुट ऊँचे रावण तथा मेघनाद के विशालकाय डील सचल वाहनों पर कसे होते हैं – वह लंबे चौड़े मेला मैदान में दौड़–दौड़कर विमान पर आरुढ राम लक्ष्मण के साथ युद्ध करते हैं। राम पुष्पक विमान पर सवार होते हैं– जिसे बत्तीस कहार खींच कर रावण मेघनाद के गतिशील पुतलों के पीछे दौड़ाते हुये चलते हैं। श्रम परिहार हेतु इन कहारों को 'मद्य' उपलब्ध कराया जाता है। हनुमान हाथी पर सवार होकर युद्ध करते हैं। लंकेश्वर–हनुमान के निकट सैन्य शिविर में 'लक्ष्मण–मूर्च्छा' तथा 'संजीवनी–बूटी' लीलायें होती हैं। आकाशमार्ग से हनुमान बूटी लेकर भरत के तीर पर आते दिखाये जाते हैं। मेघनाद वधोपरान्त सुलोचना का सती होना तथा रावण वधोपरान्त मन्दोदरी–विलाप दिखाया जाता है। रावण वध के उपरान्त हनुमान लंका से, सीता को हाथी पर बिठाकर रामदल के पास लाते हैं, जहां से वह पुष्पक विमान पर बैठकर नगर भ्रमण पर चले जाते हैं। यहीं मेला समाप्त हो जाता है।

लगभग पचास साठ वर्ष पूर्व तक इस मेले के लिये निकटवर्ती ग्राम भेंड से एक प्रशिक्षित 'हथिनी' आती थी। वह भगवान राम के सचल पुष्पक विमान के साथ उनके पीछे दौड़–दौड़ कर श्रीराम पर चँवर डुलाती थी तथा रावण एवं मेघनाद के डील पर पैरों से जोरदार प्रहार करके उसके साथ युद्ध करती थी। उक्त हथिनी को दूध जलेबी तथा आटा के रोट का भोजन कराया जाता था। उक्त हथिनी के स्वामी भेंड़ के जमींदार भैया साहब थे, जो इस रूप में रामलीला समिति को सहयोग करते थे।

कोंच की परंपरागत रामलीला लगभग डेढ़ सौ वर्षों से अनवरत आयोजित होते हुये भी समयानुसार परिवर्तित स्वरूप में समकालीन लोकनाट्य परंपरा का अद्‌भुत उदाहरण है। यह रामलीला कोंच नगर को एक सांस्कृतिक–सूत्र से जोड़ने में महनीय भूमिका निभा रहीं है। इसके उन्नयन में चौ0 बिहारीलाल के वंशजों मन्नूलाल चौधरी, तथा महादेव प्रसाद चौधरी का विशेष योगदान रहा। चौ0 मन्नूलाल फड़–साहित्यके अच्छे कवि तथा रंगकर्मी भी थे। पंडित महादेव प्रसाद जी कवि और नाटककार होने के साथ महिला भूमिकाओं के जीवन्त रंगकर्मी भी थे। इसके आयोजन में सभी धर्मावलंबी अपना योगदान करते रहे हैं। कैप्टन मुनीर अहमद, छिद्‌दे चच्चा, वशीर अहमद, वहीद अहमद, सलीम अहमद नत्थू तथा सरदार करतार सिंह की चर्चा किये बिना – कोंच की रामलीला का यह वृत अधूरा रहेगा।

पारसी थियेटर का महत्वपूर्ण केन्द्र : चरखारी

बुन्देलखण्ड प्राचीनकाल से ही रंगपरंपरा का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। संस्कृत नाटककार भवभूति के नाटकों का मंचन कालपी के निकट कालप्रियनाथ मन्दिर की विशाल रंगशाला में हुआ करता था। भवभूति ने 'उत्तर रामचरितम्' की प्रस्तावना में स्वंय स्वीकार किया है कि कालप्रियनाथ–यात्रा के समय कालप्रिय नाथ मंदिर की रंगशाला में उनके नाटकों "उत्तर रामचरितम्" मालती माधव तथा 'महावीरचरितम्' का प्रथम मंचन हुआ था। डा0वी0वी0 का मिराशी ने इस मंदिर तथा रंगशाला को कालपी में होना माना है। ओरछा का अखाड़ा कला, संगीत एवं रंगकर्मो के संबर्द्धन के लिये अति विख्यात रहा है । सुप्रसिद्ध नर्तकी राय प्रवीण वहा नृत्यांगनाओं की प्रमुख थी । प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के पूर्व झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के पति राजा गंगाधर राव की रंगशाला उच्च्वकोटि की सुविधाओं से युक्त थी। राजा गंगाधर राव स्वंय अच्छे रंगकर्मी थे। उन्होंनें रंगमण्डल गठित करके उसे पोषित और संवर्धित किया था। अंग्रेजों ने उस रंगशाला को नष्ट करके एक सांस्कृतिक केन्द्र को ध्वस्त कर दिया था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, हिन्दी फिल्म उद्योग प्रारम्भ होने के पूर्व देश में पासी थियेटर का वैभव शिखर पर था। उस समय यह थियेटर्स लोकरंजन का सबसे बड़े साध ान थे। कलकत्ता, बम्बई तथा देश के बड़े नगरों में पारसी एलफिंस्टन थियेट्रिकलम कंपनी तथा अल्फ्रेड कंपनियों का बोलबाला था। उस समय के अग्रणी नाटककार आगाहश्र कश्मीरी दि ग्रेट शैक्सपियर थियेटर कंपनी कलकत्ता का स्वयं संचालन कर रहे थे। इन सभी थियेटर्स में आगाहश्र द्वारा लिखित नाटकों की धूम रहती थी। देश के कोने–कोने से हजारों नाट्यप्रेमी उनके नाटक देखने इन नगरों में जाते थे। इस वातावरण में बुन्देलखण्ड के चरखारी राज्य के नाट्यप्रेमी महाराजा अरिमर्दन सिंह जू देव ने बुन्देलखण्ड की जनता को पारसी थियेटर का आनन्द देने के लिये चरखारी को पारसी नाटकों का सशक्त केन्द्र बनाने का संकल्प लिया तथा वे इसमें सफल भी हुये। उन्होंने 'दी रायल ड्रामाटिक सोसायटी' चरखारी की स्थापना की थी। वहां एक भव्य रंगशाला का निर्माण कराया तथा नाटककार आगाहश्र कश्मीरी को चरखारी लाकर राजकीय अतिथि का सम्मान दिया। वे वहां लगभग ढाई वर्ष रहे। वहीं उन्होंने अपने सर्वोत्तम नाटक 'सीता बनवास' तथा 'राम अवतार' (अप्रकाशित) की रचना की थी। चरखारी में ही 'सीता बनवास' लिखने के पश्चात् उसके पूर्वाभ्यास में अत्यन्त श्रमपूर्व समय दिया तथा उसका मंचन कराया। इन नाटकों को देखने बुन्देलखण्ड के छोटे–मोटे अन्य राज्यों के सुदूर क्षेत्रों से जनता चरखारी आती थी। इस प्रकार चरखारी देश में पारसी थियेटर का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।

चरखारी उत्तरप्रदेश राज्य में महोबा से 21 किमी0 दूर स्थित है। यहां के बुन्देला शासकों ने वहां मंगलगढ़ का भव्य दुर्ग, उसका कलात्मक प्रवेशद्वार ड्योढ़ी दरवाजा, अनेक

सरोवर, महल तथा कलात्मक मंदिर बनवाकर उसे बुन्देलखण्ड का कश्मीर बनाने की कोशिश की थी। इसे देखने दूर दराज से लोग आते थे। यहां के शासक राजा अरिमर्दनसिंह जू देव की नाट्यप्रियता ने यहां भव्य रंगशाला भी बनवाई तथा वार्षिक राजस्व का एक बड़ा भाग उसके रखरखाव पर व्यय किया। स्वयं रंगकर्मी के रूप में रंगमण्डल का विकास किया था। आगाहश्र कश्मीरी जैसे श्रेष्ठ नाटककारों को भारी मानदेय देकर सम्मानपूर्वक रक्खा किन्तु चरखारी का यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि भौगोलिक स्थिति की विडंबना, रेल एवं

लेक व्यू पैलेस, चरखारी जहाँ रह कर आग़ाहश्र ने "सीता वनवास" नाटक लिखा

राजपथ से उपेक्षित तथा सुदूर होने कारण यह नगर देश में पारसी थियेटर का तीसरा सशक्त केन्द्र होने के बावजूद, राष्ट्रीय मानचित्र पर स्थान नहीं पा सका। कुछ ही दिनों में यह केन्द्र असमय काल कवलित हो गया।

केवल चरखारी नरेश अरिमर्दन सिंह जू देव ही नहीं, उनकी महारानी (राजकुमारी नेपाल) भी रंग–प्रेमी थी। वह उनके साथ कलकत्ता नाटक देखने जाती थीं। एक बार यह राजदम्पत्ति अपने सेकेट्री यहिया अलवी तथा ए0डी0सी0 उम्मेद खां के साथ कलकत्ता गये। न्यू अलफ्रेड कंपनी के कोरंथियन थियेटर्स में आगाहश्र का नाटक 'आंख का नशा' चल रहा था। बुकिंग काउन्टर से पता चला कि शो हाउस फुल हो चुका था। महाराज इसी शो में नाटक देखना चाहते थे। उनका थियेटर प्रबंधकों से विवाद हो गया तथा बात की बात में उन्होंनं थियेटर के पारसी मालिक से मिलकर न्यू अल्फ्रेड कंपनी लगभग सवा लाख रूपये में खरीद ली। वह उसे पूरी साज सज्जा तथा प्रमुख कलाकारों के साथ चरखारी ले आये। प्रथम चरण में इस कंपनी को वहां के रावबाग पैलेस के निकट ठहराया गया।

चरखारी में भगवान गोवर्धननाथ का प्रसिद्ध मंदिर है।, जो वहां के शासकों द्वारा प्रबंधित रहा है। इस मंदिर की ओर से कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा तक विशाल व्यापारिक मेला लगता है, जिसमें बुन्देलखण्ड के दूर दराज से व्यापारी तथा दर्शक आते हैं। पहली बार इस मेले में प्रतिदिन एक नाटक मंचित किया गया। इस प्रकार आगाहश्रृत पंद्रह नाटक मंचित किये गये। इससे इन नाटकों की लोकप्रियता पूरे क्षेत्र में फैल गयी । इससे उत्साहित चरखारी के रंगमण्डल के सदस्यों तथा कम्पनी के कलाकारों को मिलाकर 'दी रायल ड्रामाटिक सोसायटी चरखारी' की स्थापना की गयी। भव्य रंगशाला बनाने का निर्णय लिया गया। पहले इस कंपनी का नेतृत्व आगाहश्र के छोटे भाई आगा महमूद 'हश्र' कर रहे थे किन्तु तय हुआ कि आगाहश्र को ही निर्देशक बनने के लिये तैयार किया जावे। महाराज आगाहश्र से अभिभूत थे। उस समय चरखारी के तहसीलदार का वेतन प्रतिमाह चांदी के पच्चीस कलदार थे किन्तु आगाहश्र को पन्द्रह सौ चांदी के कलदार प्रतिमाह मानदेय देना तय किया गया। साथ ही चरखारी के विशिष्ट राजकीय अतिथि गृह "लेक व्यू पैलेस", जिसे जनभाषा में ताल कोठी कहते हैं, उनको उपलब्ध कराया गया। कमल के सौन्दर्य–वैभव से भरपूर 56 हेक्टेयर में विस्तृत इस सरोवर का नैसर्गिक दृश्य मनभावन था। खान–पान तथा सुरा का व्यय राजकीय कोष से दिया जाना स्वीकार कर लिया गया। इन समस्त सुविधाओं तथा चरखारी के वैभव से प्रभावित आगाहश्र ने चरखारी आना स्वीकार कर लिया। वे जनवरी 1926 में चरखारी पहुंचे तथा मई 1928 तक उनके चरखारी में रहने की सूचना मिलती है।

चरखारी नरेश ने आगाहश्र से यह भी अनुरोध किया वे अपने चरखारी–प्रयास को ऐतिहासिक बनाने के लिये एक सुन्दर धार्मिक नाटक लिखें, उसका पूर्वाभ्यास कराकर तैयार करायें। साथ ही स्वयं निर्देशन करके उसके शो मंचित करायें। उक्त अनुरोध पर आगाहश्र ने 'सीता वनवास' तथा 'रामअवतार' नाटकों की रचना की। दो लिपिकों बरजोरे (गुजराती) तथा गोकुलप्रसाद डुलिया (स्थानीय) द्वारा आगाहश्र के डिक्टेशन पर यह नाटक लिखा गया । इसके कापीराइट भी दि रायल ड्रामाटिकल सोसायिटी ने ले लिये थे। इसके साथ ही चरखारी नरेश ने उनसे एक भव्य रंगशाला के निर्माण का निर्देशन करने का भी अनुरोध किया।

नाट्य विशेषज्ञों तथा वास्तुविदों की देख–रेख में रंगशाला का निर्माण 1927 ई0 में दीपावली के पूर्व ही लगभग डेढ़ वर्ष में पूर्ण कर लिया गया । 1927 के गोवर्धन नाथ मेले में रंगशाला का शुभारम्भ हो गया। इसके निर्माण, सहयोगी व्यवस्थाओं तथा साज–सज्जा पर चरखारी नरेश अरिमर्दन सिंह जू देव ने उदारता से पैसा खर्च किया।

भरत के नाट्यशास्त्र में रंगमण्डल तीन प्रकार के बताये गये हैं। इनमे सबसे बड़ी नाप का रंगमण्डप चतुरस (19296फीट) मध्यम नाप का विकृष्ट (9648) तथा सबसे छोटी माप का त्रयस (त्रिकोणाकारीय मुक्ताकाशी मंच) का रचना–विधान है। इसमें चौकोर आकार के दोनों रंगमण्डपों में आकार की लंबाई चौड़ाई में दो तथा एक का अनुपात है। चरखारी

के रंगमण्डपम् निर्माण में, इसमें संक्षिप्त परिवर्तन करते हुये चतुरस और विकृष्ट के बीच की माप के रंगमण्डप बनाने का नियोजन किया गया। लम्बाई चौड़ाई के अनुपात में भी मामूली परिवर्तन किया गया।

इस रंगमण्डप का आकार 12075 फीट है। इस लंबाई में रंगपीठिका (मंच की गइराई) 40 फीट सम्मिलित है। शेष 80 फीट में दीर्धा तथा गलियारे हैं। मंच की लंबाई 36 फीट तथा जमीन से ऊँचाई 4 फीट है। रंगशाला की ऊँचाई 60 फीट है। किन्तु मंच के ऊपर यह ऊंचाई 64 फीट है। मंच लकड़ी की तखतों से पाटा गया था। श्रोताओं तक ध्वनि–प्रेषण की समुचित व्यवस्था करने तथा ध्वनि–ईकों रोकने हेतु ऊपर छत में मिट्टी

रायल ड्रामेटिकल थियेटर, चरखारी

के घड़े लटकाकर पांरपरिक विधि से ध्वनि–नियंत्रण की व्यवस्था की गयी थी।

थियेटर की स्वनियंत्रित रंगदीपन व्यवस्था, यवनिका–विधान, दृश्य सज्जा एवं चित्रकला विभाग, वेश सज्जा विभाग, अभिनय विभाग नृत्य विभाग एवं संगीत विभाग थे।

रंगदीपन के लिये श्रेष्ठतम् उपकरण लाये गये थे। मंच पर रंगदीपन एवं परिसर को निर्बाध आलोकित रखने हेतु हालैण्ड से आयातित पचास अश्वशक्ति का जैनरेटर लगाया गया था।

यवनिका–विधान भी अभूतपूर्व था। यवनिकाओं पर जीवन्त दृश्य एवं चित्रावलियां बनाने के लिये दिल्ली तथा बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध चित्रकारों को लगाया गया था। यवनिकाओं को लपेटने के बजाय, लकड़ी के फ्रेम में लगी पूरी सीनरी मंच के ऊपर चढ़ाने ओर नीचे गिराने की विशेष व्यवस्था थी। इसके लिये दृश्य सज्जा विभाग में तीस दृश्य–परिवर्तक (सीनरी शिफ्टर) कर्मचारी थे।

वेष (लिबास) विभाग के भी दो अनुभाग थे। एक वेष–निर्माण का तथा दूसरा वेष–सज्जा का। वेष निर्माण विभाग में कुशल दर्जियों की नियुक्ति की गयी थी। जो पात्रों के वस्त्र–विन्यास के अनुरूप, उनकी नाप की पोशाकें तैयार करते थे। अभिनय विभाग में लगभग 20 अभिनेता तथा 32 नर्तक थे। इसमें कुछ अभिनेता कलकत्ता से आये थे शेष चरखारी के थे। महिलाओं की भूमिका के लिये एक अति सुन्दर युवक 'साबिर कश्मीरी' को आगाहश्र अपने साथ लाये थे। उसकी महिलानुरूप भाव–भंगिमाओं और प्रस्तुति ने थियेटर को चर्चा का विषय बना दिया था। स्थानीय लोग उसका अभिनय देखने दूर–दूर से आते थे। चरखारी में महिला कलाकारों की व्यवस्था नहीं थी, इसलिये कुछ महिला कलाकार बाहर से बुलाये जाते थे। किन्तु उनमें अधिकांश नृत्यांगनायें ही होती थीं।

थियेटर का अपना संगीत विभाग था। जिसमें विभिन्न वाद्यों के सिद्धहस्त वादक नियुक्त किये गये थे।

थियेटर में प्रमुख दायित्व निम्न प्रकार थे–

निर्देशक एवं लेखक–आगाहश्र कश्मीरी, नृत्य निदेशक–मास्टर चमन लाल तथा नर्वदाशंकर, सह निर्देशक एवं प्रभारी एक्टर विभाग–वाहिद अली, रंगदीपन प्रभारी–अल्ताफ हुसैन, दृश्य सज्जा (कला प्रभाग) प्रभारी–पुरूषोत्तम तथा गिरजा पेन्टर, दृश्य सज्जा प्रभारी–रामगोपाल चौबे, बापे, मुन्नी बाबू, वेष निर्माण–फूल खां, प्राम्टर–गोकुलप्रसाद दिहुलिया, भण्डार प्रबंधक–जुगल प्रसाद श्रीवास्तव, शो प्रबंधक–शंकर प्रसाद त्रिपाठी, सामान्य प्रबंधक–कामता प्रसाद सक्सेना, स्वत्वाधिकारी– मु0 यहिया अलवी,, सेक्रेटरी चरखारी टेट।

थियेटर में कुल मिलाकर एक सौ बीस से अधिक कलाकार एवं कार्यकर्ता थे। जिनके ऊपर चरखारी राज्य का साठ हजार रूपया वार्षिक बजट था। केवल 'सीता वनवास' नाटक के लेखन और तैयारी पर पचास हजार रूपयों से अधिक व्यय किया गया था। इसे फिजूलखर्ची मानते हुये ब्रिटिश शासन के नौगांव स्थित पालिटिकल एजेन्ट ने आपत्ति की थी। उसके द्वारा बार–बार परेशान किये जाने पर महाराजा अरिमनर्दन सिंह चरखारी छोड़कर दिल्ली चले गये और थियेटर 'अनाथ' हो गया । बाद में बड़ी महारानी (नेपाल वाली महारानी) ने अपने व्यक्तिगत कोष से थियेटर चलाने की अनुमति दे दी। किन्तु थियेटर अधिक दिन चल नहीं सका। प्राचीन रंगशाला की सीनरियां, पोशाकें, सजावटी सामान कौड़ियों के भाव बेच डाले गये। स्वाधीनता के बाद हमीरपुर, जालौन के सांसद मन्नूलाल द्विवेदी ने स्थानीय कलाकारों को जोड़कर 'दी जय हिन्द थियेट्रिकल कंपनी चरखारी' की स्थापना की किन्तु धनाभाव के कारण यह कंपनी भी अकाल काल कवलित हो गयी। किन्तु स्थानीय कलाकार निराश नहीं हुये। वे फाका मस्ती के माहौल में भी मंच को जिन्दा रखने की कोशिश करते रहे किन्तु शासकीय संरक्षण के अभाव मं यह रंगमण्डल बिखर गया। रंगशाला में वेयरहाउस (गोदाम) बना दिया गया है। महोबा के पर्यटन विकास की योजना बनाते समय पुनः थियेटर की गौरव–बहाली का ब्लूप्रिंट बनाया गया है। किन्तु उसकी सफलता भविष्य के गर्भ में है।

•

परिशिष्ट

परिशिष्ट

THE COVENANT

entered into by the Rulers of certain States in
Bundelkhand and Baghelkhand
for the formation of

THE UNITED STATE OF VINDHYA PRADESH

WE, the Rulers of certain States in Bundelkhand and Baghelkhand,

BEING CONVINCED that the welfare of the people of this region can best be secured by the establishment of a State comprising the territories of the numerous States in this region, with a common executive, legislature and judiciary;

AND HAVING resolved to entrust to a Constituent Assembly consisting of elected representatives of the people the drawing up of a democratic Constitution for that State within the framework of the Constitution of India to which we have already acceded, and of this Covenant;

DO HEREBY, with the concurrence and guarantee of the Government of India, enter into the following COVENANT.

ARTICLE I

In this Covenant,-

(a) "Covenanting State" means any of the States mentioned in Schedule I the Ruler of which has, whether by himself or by a duly authorised representative, signed this Covenant;

(b) "Covenanting Salute State" means any Covenanting State which is mentioned in Part A of Schedule I;

(c) "Covenanting Non-Salute State" means any Covenanting State which is mentioned in Part B of Schedule I; and

(d) unlsess there is anything repugnant in the subject or context, references to the Ruler of a State include any person or persons for the time being exercising the powers of the Ruler, whether by reason of his minority or for any other reason.

ARTICLE II

(1) The Convenanting States agree to unite and integrate their territories in one State, with a common executive, lesislature and judiciary, by the name of "THE UNITED STATE OF VINDHYA PRADESH".

परिशिष्ट

THE COVENANT

entered into by the Rulers of certain States in
Bundelkhand and Baghelkhand
for the formation of

THE UNITED STATE OF VINDHYA PRADESH

WE, the Rulers of certain States in Bundelkhand and Baghelkhand,

BEING CONVINCED that the welfare of the people of this region can best be secured by the establishment of a State comprising the territories of the numerous States in this region, with a common executive, legislature and judiciary;

AND HAVING resolved to entrust to a Constituent Assembly consisting of elected representatives of the people the drawing up of a democratic Constitution for that State within the framework of the Constitution of India to which we have already acceded, and of this Covenant;

DO HEREBY, with the concurrence and guarantee of the Government of India, enter into the following COVENANT.

ARTICLE I

In this Covenant,-

(a) "Covenanting State" means any of the States mentioned in Schedule I the Ruler of which has, whether by himself or by a duly authorised representative, signed this Covenant;

(b) "Covenanting Salute State" means any Covenanting State which is mentioned in Part A of Schedule I;

(c) "Covenanting Non-Salute State" means any Covenanting State which is mentioned in Part B of Schedule I; and

(d) unlsess there is anything repugnant in the subject or context, references to the Ruler of a State include any person or persons for the time being exercising the powers of the Ruler, whether by reason of his minority or for any other reason.

ARTICLE II

(1) The Convenanting States agree to unite and integrate their territories in one State, with a common executive, lesislature and judiciary, by the name of "THE UNITED STATE OF VINDHYA PRADESH".

(2) The said State is hereafter in this Convenant referred to as "the United State".

ARTICLE III

(1) There shall be a Council of Rulers consisting of the Rulers of the Covenanting Salute States, the Rulers of Sarila, Alipura, Sohawal and Kothi, and two Rulers to be elected from among themselves of the rest of the Rulers of the Covenanting Non-Salute States:

Provided that no Ruler who is less than 21 years of age shall be a member of Council.

(2) The Council shall elect at a meeting one of its members to be the President, and another to be the Vice-President, of the Council; and the President so elected shall be the Raj Pramukh of the United State.

(3) For the purpose of the elections referred to in paragraph (2) the Ruler of Rewa shall have fifteen votes and the other members of the Council of Rulers one vote each.

(4) A Ruler elected as the President or the Vice-President of the Council shall be entitled to hold office as such President or Vice-President for a term of five yars from the date on which he enters upon the duties of that office.

(5) Notwithstanding anything cntained in the preceding paragraphs of this Article, the present Rulers of Rewa and Panna shall be deemed to have been elected as the first President and Vice-President respectively of the council of Rulers and shall be deemed to have entered upon the duties of their respective offices on the 2nd day of April 1948.

ARTICLE IV.

(1) There shall be paid to the Raj Pramukh from the revenues of the United State a sum of Rs. 1,22,000/- per year as consolidated allowance in order that he may be enabled to discharge conveniently and with dignity the duties of his office.

(2) If the Raj Pramukh is by reason of absence or illness, or for any other reason, unable to perform the duties of his office, those duties shall, until he has resumed them, be performed by the Vice-President. During such period the Vice-President shall be entitled to the same

consolidated allowance as the Raj Pramukh.

ARTICLE V

(1) There shall be a Council of Ministers to aid and advise the Raj Pramukh in the exercise of his functions except those under paragraph (2) of Article VII.

(2) The ministers shall be chosen by, and shall hold office during the pleasure of the Raj Pramukh.

ARTICLE VI

(1) The ruler of each Covenanting State shall, as soon as may be practicable, and in any event not later than the 1st of May 1948, make over the administration of his State to the Raj Pramukh; and thereupon.

(a) all rights, authority and jurisdiction belonging to the Ruler which apperation, orare incidental, to the government of the Convenanting State shall vest in the United State the shall hereafte be exercisable only as provided by this Covenant or by the Consititution to be framed there-under;

(b) all duties and obligtions of the Ruler pertaining or incidental to the government of the Conventing State shall devolve on the United State and shall be discharged by it; and

(c) all the assets and liabilities of the Covenanting State shall be assets and liabilities of the United State.

ARTICLE VII

(1) The military forces, if any, of each Conventing State shall, as from the date on which the administration of such state is made over to the Raj Pramukh, become the militaryforces of the United State.

(2) Subject to any directions or instructions that may from time to time be given by the Government of India in this behalf, the authority to raise, maintain and administer the military forces of the United State shall vest exclusively in the Raj Pramukh;

Provided that nothing in this Article shall be deemed to prevent the Raj Pramukh from consulting the Council of Ministers in regard to any of the said matters.

ARTICLE VIII

Subject to the provisions of this Covenant and of the Constitution

to be framed thereunder, the executive authority of the United State shall be exercised by the Raj Pramukh either directly or through officers subordinate to him; but nothing in this Article shall prevent any competent legislature of the United State from confering functions upon subordinate authorities or be deemed to transfer to the Raj Pramukh any functions conferred by any existing law on any court, judge, officer or local authority in a Covenanting State.

ARTICLE IX

(1) There shall be formed, as soon as may by practicable, a Constituent Assembly in the manner indicated in Schedule II.

(2) It shall be the duty of the said Assembly to frame a Constitution (whether of a unitary or federal type) for the United State within the framework of this Covenant and the Constitution of India, and providing for a government responsible to the legislature.

(3) Until a Constitution so framed comes into operation after receiving the assent of the Raj Pramukh, the legislative authority of the United State shall vest in the Raj Pramukh, who may make and promulgate Ordinances for the peace and good government of the United State or any part thereof, and any Ordinance so made shall have the like force of law as an Act passed by the legislature of the United State.

ARTICLE X

(1) The Ruler of each Covenanting State shall be entitled to receive annually from the revenues of the United State for his privy purse, the amount specified against that Covenanting State in schedule I.

(2) The said amount is intended to cover all the expenses of the Ruler and his family including expenses on account of his personal staff, maintenance of his residences, marriages and other ceremonies, etc., and shall neither be increased nor reduced for any reason whatsoever.

(3) The Raj Pramukh shall cause the said amount to be paid to the Ruler in four equal instalments at the begining of each quarter in advance.

(4) The said amount shall be free of all taxes, whether imposed by the Government of the United State or by the Government of India.

ARTICLE XI

(1) The Ruler of each Covenanting State shall be entitled to the full ownership use and enjoyment of all private properties (as distinct from State properties) belonging to him on the date of his making over the administration of that State to the Raj Pramukh.

(2) He shall furnish to the Raj Pramukh before the 1st May 1945 an inventory of all the immoveable properties, securities and cash balances held by him as such private property.

(3) If any dispute arises as to whether any item of property is the private property of the Ruler or State property, it shall be referred to a Judicial officer to be nominated by the Goverment of India, and the decision of that person shall be final and binding on all parties concerned.

ARTICLE XII

The Ruler of each Covenanting State, as also the members of his family shall be entitled to all the personal privileges, dignities and titles enjoyed by them, whether within or outside the territories of the State, immedietely before the 15the day of August, 1947.

ARTICLE XIII

(1) The succession, according to law and custom, to the gaddi of each Covenanting State, and to the personal rights, privileges, dignited and titles of the Ruler thereof, is hereby guaranteed.

(2) Every question of disputed succession in regard to a Covenanting State shall be decided by the Council of Rulers after referring it to the High Court of the United State and in accordance with the opinion given by that High Court.

ARTICLE XIV

No enquiry shall be made by or under the authority of the United State, and no proceedings shall lie in any court in the United State, against the Ruler of any Covenanting State, whether in a personal capacity or otherwise, in respect of anything done or omitted to be done by him or under his authority during the period of his administration of that Covenanting State.

ARTICLE XV

(1) The United State hereby guarantees either the continuance in service

of the permanent members of the public services of each of the Covenanting State on conditions which will be not less advantageous than those on which they were serving on the 1st February 1948 or the payment of reasonable compensation.

(2) The United State further guarantees the continuance of pensions and leave salaries sanctioned by competent authorities in any of the Covenanting States to members of the public services of that State who have retired, or proceeded on leave preparatory to retirement, before the date referred to in paragraph (1) of this Articles.

ARTICLE XVI

Except with the previous sanction of the Raj Pramukh, no proceedings, civil or criminal, shall be instituted against any person in respect of any act done or purporting to be done in the execution of his duty as a servant of any Covenanting State before the date on which the administration thereof is made over to the Raj Pramukh

ARTICLE XVII

Notwithstanding anything contained in this covenant, if three-fourths of the representatives of Rewa State in the Constituent Assembly vote in favour of opting out of the Union, this Covenant, in so far as it affects that State, will not be operative. If this option is not exercised within one month from the date of the first meeting of the Constituent Assembly the provisions of this Articles will be inoperative.

SCHEDULE I

Covenanting States and Privy Purse Amounts.

Part- A	**- Salute States.**	**Rs.**
1.	Ajaigarh	74,700
2.	Baoni	46,850
3.	Baraundha	14,500
4.	Bijawar	70,700
5.	Chhatarpur	1,00,350
6.	Charkhari	95,900
7.	Datia	1,54,300
8.	Maihar	56,500
9.	Nagod	55,400
10.	Orchha	1,85,300

11.	Panna	1,47,300
12.	Rewa	10,00,000
13.	Samthar	51,800
Part- B - Non-Salute States.		**Rs.**
1.	Alipura	28,150
2.	Banka Pahari	3,000
3.	Beri	7,750
4.	Bhaisunda	5,600
5.	Bihat	5,600
6.	Bijna	3,000
7.	Dhurawi	5,000
8.	Garrauli	10,500
9.	Gaurihar	15,000
10.	Jaso	8,600
11.	Jigni	5,950
12.	Kamta Rajaula	5,000
13.	Khaniadhana	15,600
14.	Kothi	15,400
15.	Lgasi	10,100
16.	Naigawan Rebai	5,000
17.	Pahra	5,300
18.	Paldeo (Nayagaon)	10,400
19.	Sarila	18,650
20.	Sohawal	25,900
21.	Taron	5,850
22.	Tori Fatehpur	7,000

SCHEDULE II

Provisions relating to the VINDHYA PRADESH Constituent Assembly.

1. The Assembly shall consist of not more than 36 elected representatives of the people of the United State on the basis of one representative for approximately one lakh of the population.
2. The United State shall be divided into territorial constituencies, and the total number of seats shall be distributed among them by assigning to each constituency one or two seats as may be convenient. As far

as possible the constituencies shall be so delimited as not to cut across the boundaries of any compact part of a Covenanting State.

3. The qualifications for membership of the Assembly and for being included in the electoral rolls shall be similar to those prescribed in relation to the provincial legislative Assembly of the United Provinces, subject to necessary modifications.

4. An order shall in due course be made and proclaimed by the Raj Pramukh providing, consistently with the foregoing provisions of this Schedule, for -
   - (a) the delimitation of constituencies;
   - (b) the preparation of electoral rolls;
   - (c) the qualifications for membership of the Assembly;
   - (d) the qualifications entitling persons to vote in the elections;
   - (e) conduct of the elections, including by elections for the filling of casual vacancies;
   - (f) corrupt practices at or in connection with such elections; and
   - (g) the decision of doubts and disputes arising out of or in connection with such elections.

In confirmation of the above Covenant we append our signatures, "On behalf of ourselves, our heirs and successors.

1. Maharaja of Ajaigarh.
2. Nabab of Baoni.
3. Raja of Baraundha.
4. Maharaja of Bijawar
5. Maharaja of Chhatarpur.
6. Maharaja of Charkhari
7. Maharaja of Datia.

8. Maharaja of Maihar.

9. Raja of Nagod.

10. Maharaja of Orchha.

11. Maharaja of Panna

12. Maharaja of Rewa.

13. Mharajaof Samthar.

14. Raja — Rao of Alipura.

15. Jagirdar of Banka Pahari.

16. Jagirdar of Beri.

17. Jagirdar of Bhaisaundha.

18. Regent Bihat. — Rao of Bihat.

19. Jagirdar of Bijna.

20. Jagirdar of Dhurawai State

21. Jagirdar of Garruali State

22. Jagirdar of Gaurihar.

23. Sidheshwari Devi. Regent Jaso. — Jagirdar of Jaso.

24. Rao of Jigni.

25. Jagirdar of Kamta-Rajaula.

26. Raja of Khanigdhana.

27. Raja of Kothi.

28. Jagirdar of Lugasi.

29. Jagirdar of Naigawan-Rebai.

30. Jagirdar of Pahra.

31. Jagirdar of Paldeo.

32. Raja of Sarila.

33. Raja of Sohawal

34. Jagirdar of Taraon

35. Jagirdar of Tori Fatehpur.

The Government of India hereby concur in the above Covenant and guarantee all its provisions. In confirmation whereof Mr. Vapal Pangunni Menon, Secretary to the Government of India in the Ministry of States, appends his signature on behalf, and with the authority, of the Government of India.

Secretary to the Government of India, Ministry of States

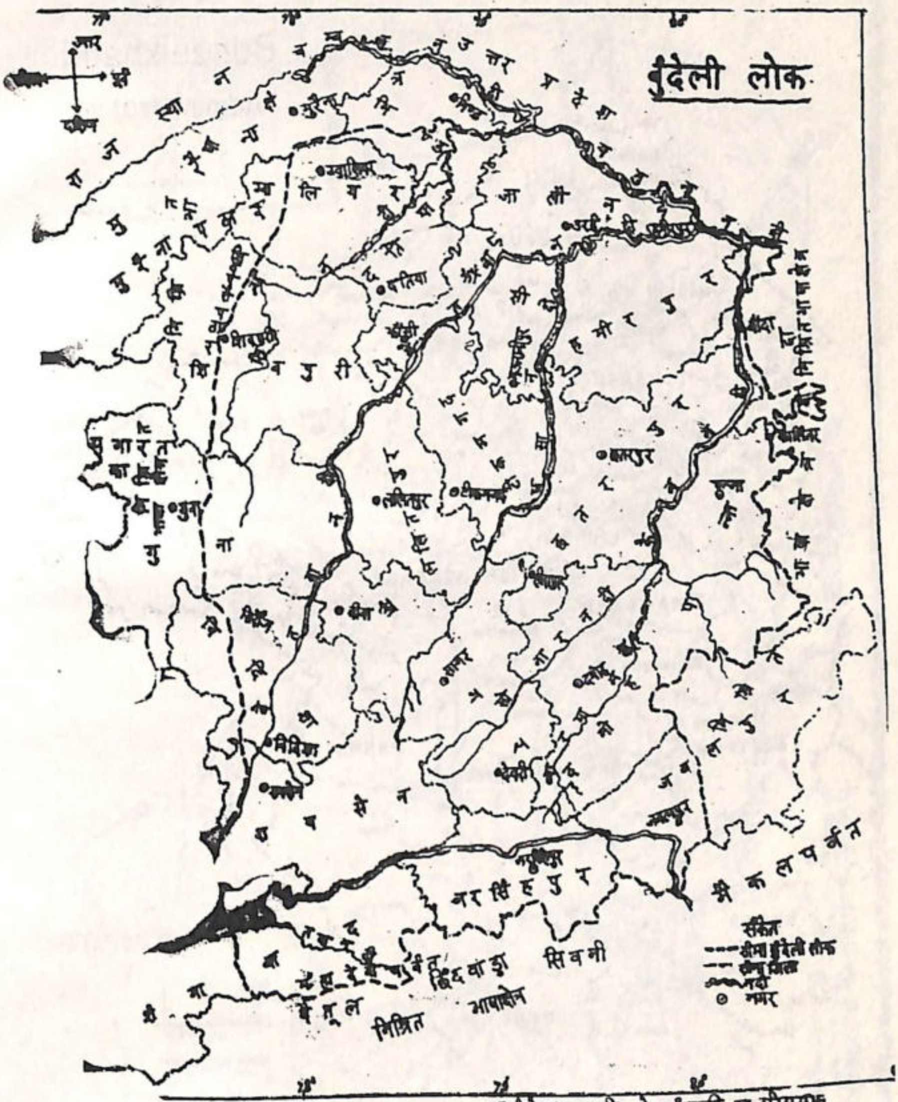

बुन्देली भाषायी एवं सांस्कृतिक क्षेत्र
सौजन्यः डा. नर्मदा प्रसाद गुप्त (छतरपुर)।

बुन्देलखण्ड का प्रशासनिक मानचित्र

सौजन्यः भारतीय धारागाह अनुसंधान संस्थान द्वारा प्रकाशित 'एटलस आफ बुन्देलखण्ड से।

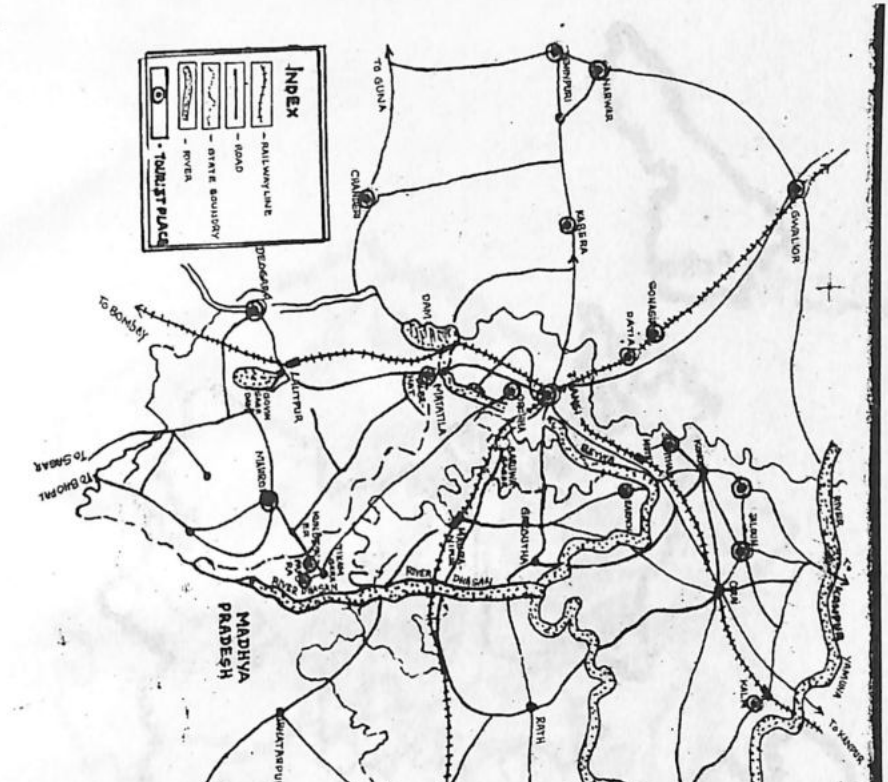

उत्तरप्रदेशीय बुन्देलखण्ड

(उ.प्र. की बुन्देलखण्ड विकास निधि से सेवित)

सौजन्यः आयुक्त झांसी मण्डल, झांसी।

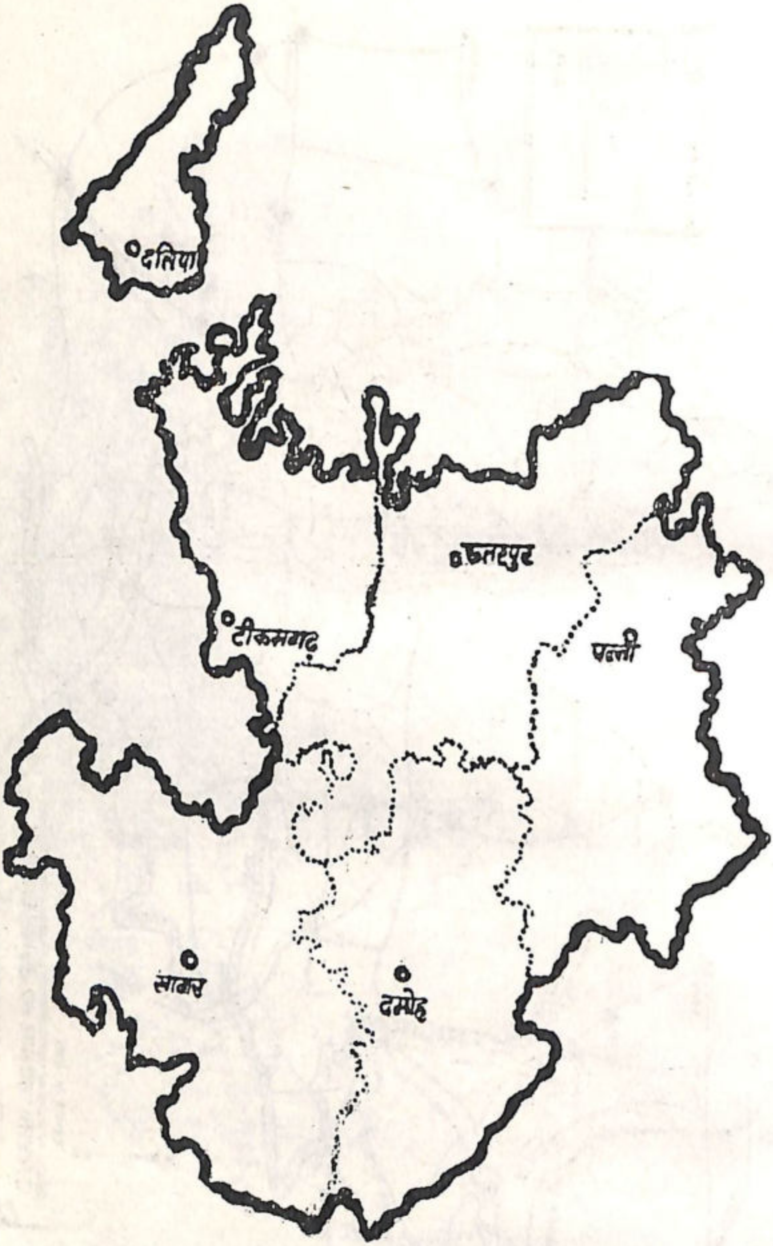

मध्यप्रदेशीय बुन्देलखण्ड
(म.प्र. के बुन्देल विकास प्राधिकरण से सेवित)
सौजन्यः आयुक्त, सागर सम्भाग, सागर

बुन्देलखण्ड–राज्य निर्माण हेतु प्रस्तावित क्षेत्र
सौजन्यः बुन्देलखण्ड मुक्ति मोर्चा, झांसी